



# मजदूर बिगुल

भारत-चीन सीमा  
विवाद और  
अन्धराष्ट्रवाद 7

मार्क्स के आर्थिक  
चिन्तन के विकास के  
प्रमुख चरण 11-14

समान नागरिक  
संहिता पर मजदूर  
वर्ग का नज़रिया 16

## नये साल में मजदूर वर्ग के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ क्या हैं? इन चुनौतियों का मुक़ाबला मजदूर वर्ग कैसे कर सकता है?

इस सदी का एक और साल बीत गया। बिना तैयारी के लगाये गये लॉकडाउन, लचर स्वास्थ्य व्यवस्था तथा सरकार के ग़रीब-विरोधी रुख के चलते कोविड की दूसरी लहर में आम मेहनतकश जनता ने अकल्पनीय दुख-तकलीफ़ें झेलीं। लॉकडाउन के बाद सामान्य दौर में भी मजदूरों के जीवन में कोई बेहतरी नहीं हुई है। असल में आर्थिक संकट से जूझती अर्थव्यवस्था में मजदूरों को कोविड के बाद कम वेतन पर तथा अधिक वर्कलोड पर काम करने पर पूँजीपति वर्ग ने मजबूर किया है। लॉकडाउन व कोविड महामारी की आपदा को देश के धन्नासेठों ने अपने सरगना नरेन्द्र मोदी के निर्देश पर अच्छी तरह से “अवसर” में तब्दील किया है!

स्वतंत्रता के 75 साल पूरे होने पर भाजपा “अमृतकाल” का जश्न मना रही थी, जबकि देश के मेहनतकशों के

लिए यह ‘मृतकाल’ साबित हो रहा है। इसी “अमृतकाल” में यानी 2021 में ही हर दिन 115 मजदूरों ने आत्महत्या की है। पिछले 5 सालों में 6500 से अधिक मजदूरों ने हादसों में जान गँवायी है। केवल 2021 ही नहीं भारत की आज़ादी के 75 सालों में मजदूरों को नारकीय जीवन ही मिला है। खास तौर पर 2014 के बाद से मजदूरों की आत्महत्या और कार्यस्थल पर दुर्घटनाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। मजदूरों की आत्महत्या का कारण समूचे देश में छाया निराशा, बेकारी, निरुपायता और भुखमरी है। ऐसा नहीं है कि मजदूर लड़ नहीं रहे हैं। देश में तमाम हिस्सों में स्वतःस्फूर्त रूप से मजदूर अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज़ भी उठा रहे हैं। लेकिन पूँजी और शासन-प्रशासन की एकजुट ताक़त के सामने मजदूरों के बिखरे हुए प्रतिरोध और संघर्ष अधिकांश मामलों में बिखर

### सम्पादकीय अग्रलेख

जा रहे हैं और यदि अपवादस्वरूप उन्हें कहीं तात्कालिक सफलता मिल भी रही है तो वह तात्कालिक चरित्र की ही है। पूँजीपति ऐसे मामलों में हमला करने के अगले मौक़े की तलाश में रहते हैं और करते भी हैं।

यह निरुपायता और आन्दोलन का राजनीतिक संकट देश के मजदूर आन्दोलन की बिखराव की स्थिति और एक ऐसे राजनीतिक नेतृत्व की अनुपस्थिति की वजह से है जिसके पास देशव्यापी मजदूर आन्दोलन को एक ठोस दिशा देने की समझदारी और लाइन मौजूद हो। आज का प्रधान राजनीतिक कार्यभार ही यही है कि मजदूर आन्दोलन के भीतर एक ऐसे राजनीतिक नेतृत्व को खड़ा किया जाये। बिना अपने राजनीतिक नेतृत्व और

पार्टी के मजदूर वर्ग कभी भी पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के हमलों का मुक़ाबला नहीं कर सकता है। लुब्बेलुबाब यह कि सर्वहारा वर्ग आज बँटा हुआ, विसंगठित और बिखरा हुआ है, जबकि पूँजीपति वर्ग अपने तमाम आन्तरिक झगड़ों और अन्तरविरोधों के बावजूद मजदूरों और मेहनतकश जनता के विरुद्ध राजनीतिक तौर पर एकजुट है।

इस समय न सिर्फ़ हिन्दुस्तान में बल्कि पूरी दुनिया में यही स्थिति है। अमीरी और ग़रीबी की असमानता की खाई और गहराती जा रही है। देश के करोड़ों मेहनतकश हाड़तोड़ मेहनत के साथ अपनी रोजी-रोटी की जद्दोजहद में लगे हैं। ऐतिहासिक तौर पर मजदूर वर्ग अभूतपूर्व विपर्यय और गतिरोध के अँधेरे में घिरा है जिससे बाहर निकलने का कोई बना-बनाया रास्ता उसके सामने नहीं मौजूद है। इस विपर्यय और

गतिरोध और साथ ही जीवन के मुश्किल होते हालात की निराशा ही मजदूरों की आत्महत्याओं की संख्या में झलकती है।

जहाँ मेहनतकशों के हिस्से में तकलीफ़ें, मौत, बीमारी, भूख और निराशा आयी है वहीं पूँजीपतियों ने अकूत धन-सम्पदा अर्जित की है। यह अकारण नहीं कि 2014 के बाद से मजदूरों के जीवन-स्तर में गिरावट दर्ज हुई है। जिन ‘अच्छे दिनों’ और विकास का शोर मचाते हुए फ़ासीवादी मोदी सरकार सत्ता में आयी थी अब वह नोटबन्दी की चीखों, कोविड महामारी व अनियोजित व जनविरोधी तरीक़े से थोपे गये लॉकडाउन की ग़रीबों पर पड़ी मार में दब चुका है। अब भाजपा नन साम्प्रदायिकता, अन्धराष्ट्रवाद और जातिगत समीकरण के ज़रिए जनता को (पेज 9 पर जारी)

### गुजरात, हिमाचल विधानसभा चुनाव और कुछ राज्यों के उपचुनावों के नतीजे

## चुनावी शिकस्त देकर फ़ासीवाद को हराने के मुंगेरी लालों के हसीन सपनों पर एक बार फिर पड़ा पानी!

#### ● अपूर्व मालवीय

गुजरात विधानसभा चुनाव में भाजपा की ऐतिहासिक जीत ने एक बार फिर यह सिद्ध कर दिया है कि जैसे-जैसे पूँजीवादी व्यवस्था का ढाँचागत आर्थिक संकट बढ़ता जाता है वैसे-वैसे फ़ासीवाद की ज़मीन भी उर्वर और विस्तारित होती जाती है। ऐसे संकट के समय बुर्जुआ वर्ग की सार्वत्रिक

आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली फ़ासीवादी ताक़तों को बुर्जुआ जनवादी चुनाव में शिकस्त देकर फ़ासिज़्म को रोकने व परास्त करने का सपना देखने वाले भारत के तमाम मुंगेरी लालों (उदारवादियों, सुधारवादियों, वामपन्थी बुद्धिजीवियों और सामाजिक जनवादियों) को अपने हसीन सपने के बारे में एकबार फिर से

सोचने की ज़रूरत है।

नवम्बर-दिसम्बर महीने में गुजरात, हिमाचल विधानसभा चुनाव के साथ ही दिल्ली एम.सी.डी. चुनाव, उत्तर प्रदेश के मैनपुरी, खतौली, रामपुर और बिहार के कुढ़नी के उपचुनाव हुए। इन चुनावों में भाजपा की जीत और उसके सामाजिक आधार का विस्तार होना कोई अप्रत्याशित बात नहीं है। पूरे देश

में महँगाई, बेरोज़गारी, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी समस्याएँ आम मेहनतकश जनता का जीवन दूभर बनाये हुए हैं। वहीं नवउदारवादी नीतियों का चाबुक भी पूरी तीव्रता के साथ आम जनता के ऊपर पड़ रहा है। इसको देखते हुए इन चुनावों में आने वाले भावी परिणामों को भाजपा के लिए सबक जैसा बताया जा रहा था। वामपन्थी

बुद्धिजीवियों से लेकर उदारवादियों, सामाजिक जनवादियों तक में राहुल गाँधी की ‘भारत जोड़ो यात्रा’ को हसरत-भरी निगाहों से देखा जा रहा था कि यह यात्रा साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण और हिन्दुत्व की फ़ासीवादी राजनीति के खिलाफ़ एक विकल्प खड़ा करने में अहम भूमिका निभायेगी। लेकिन (पेज 5 पर जारी)

**बजा बिगुल मेहनतकश जाग, विंगारी से लगेगी आग!**

## समान नागरिक संहिता पर मज़दूर वर्ग का नज़रिया

(पेज 15 से आगे)  
में मज़दूरी से स्थापित करने के सबसे कारगर हथियार का काम किया है। इसलिए विभिन्न धर्मों के पर्सनल लॉ महिलाओं को गुलामी की जंजीरों में बाँधने के मज़दूर उपकरण का काम करते हैं। विवाह, तलाक़, गुजारा-भत्ता व उत्तराधिकार जैसे मामलों में सभी धर्म महिलाओं को बराबर का हिस्सेदार समझने की बजाय दोगलेपन का नागरिक समझते आये हैं। ऐसे में किसी भी धर्म के पर्सनल लॉ की हिफ़ाज़त करना इस देश की औरतों के हितों के सरासर खिलाफ़ है। इसलिए मज़दूर वर्ग को किसी भी पर्सनल लॉ

की जंजीरों को बरकरार रखने की बजाय उन्हें तोड़ने पर ज़ोर देना चाहिए। मज़दूर वर्ग को समान नागरिक संहिता का मुद्दा धर्मनिरपेक्षता और औरतों की बराबरी के अधिकार के नज़रिए से सकारात्मक तौर पर उठाना चाहिए। निस्सन्देह रूप से, सर्वहारा वर्ग को समान नागरिक संहिता के पक्ष में धर्मनिरपेक्षता और मज़दूर वर्ग के नज़रिए से प्रचार करना चाहिए और व्यापक मेहनतकश आबादी को इस पर तार्किक तौर पर तैयार करना चाहिए और ऐसा करते हुए भाजपा और संघ परिवार के दोगलेपन को भी बेनकाब करना चाहिए। इतना स्पष्ट है

कि सैद्धान्तिक रूप से समान नागरिक संहिता का पुरज़ोर समर्थन किया जाना चाहिए जो सच्चे मायने में धर्मनिरपेक्ष हो और स्त्रियों की वास्तविक बराबरी पर आधारित हो। साथ ही मज़दूर वर्ग को अपनी ओर से सकारात्मक तौर पर समान नागरिक संहिता को सार्वजनिक रूप से बहस को मुद्दा बनाना चाहिए। इस प्रक्रिया में हम न सिर्फ़ भाजपा व संघ परिवार की राजनीतिक-कूटनीतिक चाल में नहीं फँसेगे बल्कि उनकी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी और घोर स्त्री-विरोधी राजनीति व मानसिकता का पर्दाफ़ाश करने का मौक़ा मिलेगा।

### मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :

www.facebook.com/MazdoorBigul

### 'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।
2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।
3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टियों के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।
4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क्रतारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।
5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

### एक कहानी

## जीवन गाथा

मैं बहुत खाता था।  
बहुत खाने से बहुत-से रोग हो जाते हैं  
इसलिए सुबह और शाम दौड़ा करता था।  
बहुत दौड़ने से बहुत थक जाता था इसलिए  
बहुत सोता था।  
बहुत सोने से स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता  
है इसलिए बहुत खाता था।

और इस सबमें बहुत थक जाता था इसलिए  
कमाने का काम मैं अपने मज़दूरों और क्लर्कों  
पर छोड़ दिया करता था।  
और इस तरह एक दिन मैं मर गया। मुझे  
पता ही नहीं चला कि मैं कब मरा।

– विष्णु नागर

### 'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से एक अपील

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता खुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।
2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।
3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)
4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।  
हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिए जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितियों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हाट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं।

नम्बर है : 8853476339

“बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार खुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।” – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

QR कोड व UPI

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,  
द्वारा जनचेतना,  
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul  
खाता संख्या : 0762002109003787,  
IFSC: PUNB0185400

UPI: bigulakhbar@okicici

पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हाट्सएप)

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

### मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006  
फ़ोन: 8853476339

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

मूल्य : एक प्रति – 10/- रुपये

वार्षिक – 125/- रुपये (डाक खर्च सहित)

आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

# दिल्ली में फिर एक लड़की के साथ बर्बरता : न्याय व सम्मान के लिए संगठित होकर लड़ना होगा

## ● सत्यप्रकाश

नये साल के पहले ही दिन दिल्ली में एक बार फिर एक लड़की कुछ दरिन्दों की हैवानियत का शिकार बनी। नये साल का जश्न मनाकर लौट रहे पैसे, मर्दानगी और शराब के नशे में धुत कुछ नरपशुओं ने एक लड़की की स्कूटी को टक्कर मारी और फिर अपनी कार के नीचे फँसे उसके शरीर को मीलों तक सड़कों पर तब तक घसीटते रहे जब तक उसके शरीर के चीथड़े नहीं उड़ गये।

किसी स्त्री के साथ हैवानियत की कोई घटना हो और उसमें भाजपा से जुड़े किसी शख्स का नाम नहीं आये, ऐसा अब केवल अपवादस्वरूप ही होता है। इस बार भी पता चला कि मनोज मित्तल नाम का एक छुटभैया भाजपा नेता और दलाल इसमें शामिल है। किसी अपराध में, और खासकर स्त्रियों के विरुद्ध हुए किसी अपराध में भाजपा या संघ के किसी व्यक्ति का नाम आये और सरकारी तंत्र से लेकर मीडिया तक उसे बचाने और पीड़ित को ही बदनाम करने में न लग जायें, ऐसा तो कभी नहीं होता है। इस बार भी नहीं हुआ।

मित्तल का भाजपा से सम्बन्ध उजागर होते ही खबर आयी कि गृहमंत्री अमित शाह ने इस मामले में सीधी दिलचस्पी लेकर पुलिस से रिपोर्ट माँगी है। बस, अगले ही दिन से कार में सवार दरिन्दों के खिलाफ मामले को हल्का करने और उल्टे उस लड़की में तरह-तरह से खोट निकालने के कारनामे

दिल्ली पुलिस और मीडिया के दल्लों ने शुरू कर दिये। अब कुछ चश्मदीद गवाहों के ज़रिए यह बात भी सामने आ चुकी है कि घटना की रात ही पुलिस ने घनघोर लापरवाही बरती थी और न सिर्फ़ बार-बार इस भयावह घटना की सूचना दिये जाने पर भी कुछ नहीं किया, बल्कि लड़की के शरीर को घसीटते हुए सड़कों पर चक्कर लगा रही कार को एक बार रोककर जाने भी दिया था।

इस घटना ने दिल्ली पुलिस और भाजपा सरकार के जनविरोधी चेहरे को ही नहीं, दिल्ली के मुख्यमंत्री केजरीवाल के पाखण्डी चेहरे को भी एक बार फिर नंगा कर दिया है। सत्ताधारियों के घड़ियाली आँसू और दिखावटी शोक उनके चेहरों पर पुती कालिख को कभी धो नहीं सकते।

16 दिसम्बर 2012 को दिल्ली में निर्भया के साथ हुई बर्बरता के बाद देशभर में उठी गुस्से और शर्म की लहर के बावजूद बलात्कार, गैंगरेप और छेड़खानी की घटनाएँ कम होने के बजाय बढ़ती ही गयी हैं। हर दो मिनट पर देश में किसी-न-किसी स्त्री की इज्जत पर हमला होता है! और इससे भी कहीं ज्यादा मामलों की रिपोर्ट भी नहीं होती। घरों में, दफ्तरों में, कारखानों-खेतों-खदानों में, रास्तों-बाज़ारों में, कभी भी, कहीं भी स्त्री सुरक्षित नहीं है। नरेन्द्र मोदी की भाजपा सरकार आने के बाद के साढ़े आठ सालों में तो स्त्रियों के विरुद्ध अपराधों की न सिर्फ़ संख्या बढ़ी

है बल्कि खुलकर और बेशर्मी के साथ ऐसे दरिन्दों का बचाव और पीड़ितों पर ही हमला करना आम बात हो गयी है।

आज ऐसे अपराधियों को सख्त से सख्त सज़ा दिलाने और हमारी इन बहनों को इन्साफ़ दिलाने के लिए सड़कों पर उतरने के साथ ही हमें इस सवाल पर भी सोचना होगा कि स्त्रियों पर बर्बर हमलों की घटनाएँ इस क्रूर क्योँ बढ़ती जा रही हैं और इनके लिए कौन-सी ताकतें जिम्मेदार हैं।

आज स्त्रियों पर हमला करने वाले आदमखोर भेड़ियों की तरह बेखौफ़ घूमते रहते हैं। हिफ़ाज़त के लिए बनी संस्थाएँ ही स्त्रियों की सबसे बड़ी दुश्मन बन चुकी हैं। ऐसी हर घटना के बाद सरकार से लेकर सभी विपक्षी चुनावी पार्टियाँ तक जमकर घड़ियाली आँसू बहाती हैं। लेकिन यही पार्टियाँ हैं जो लोकसभा और विधानसभा चुनावों में स्त्री-विरोधी अपराधों के सैकड़ों आरोपियों को टिकट देती हैं। हर चुनावी पार्टी में बलात्कार, भ्रष्टाचार, हत्या आदि के आरोपी भरे हुए हैं। लेकिन ऐसे अपराधियों का बेशर्मी से बचाव करने में भाजपा और संघ परिवार ने सबको पीछे छोड़ दिया है।

पिछले तीन दशकों से जारी आर्थिक नीतियों ने 'खाओ-पियो ऐश-करो' की संस्कृति में लिप्त एक नवधनाढ्य वर्ग पैदा किया है जिसे लगता है कि पैसे के बूते पर वह सबकुछ खरीद सकता है। पूँजीवादी

लोभ-लालच और हिंस्र भोगवाद की संस्कृति ने स्त्रियों को एक 'माल' बना डाला है, और पैसे के नशे में अन्धे इस वर्ग के भीतर उसी 'माल' के उपभोग की उन्मादी हवस भर दी है। इन्हीं लुटेरी नीतियों ने एक आवारा, लम्पट, पतित वर्ग भी पैदा किया है जो पूँजीवादी अमानवीकरण की सभी हदों को पार कर चुका है। बार-बार स्त्रियों के साथ होने वाली नृशंसता इसकी गवाही देती है। इस सबको निरन्तर खाद-पानी देती है हमारे समाज के पोर-पोर में समायी पितृसत्तात्मक मानसिकता, जो स्त्रियों को भोग की वस्तु और बच्चा पैदा करने का यंत्रभर मानती है, और हर वक्रत, हर पल स्त्री-विरोधी मानसिकता को जन्म देती है। समाज में अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए आगे बढ़ी स्त्री ऐसे लोगों की आँखों में खटकती है और वे उसे "सबक़ सिखाने" में जुट जाते हैं।

इस घटना में भी मीडिया से लेकर पुलिस तक यह सवाल उछाल रही है कि इतनी देर रात गये वह लड़की सड़क पर क्या कर रही थी। कोई यह नहीं पूछेगा कि दिन या रात को ऐसे नरपशुओं को सड़कों पर छुट्टा घूमने क्योँ दिया जाता है।

आज सत्ता में वे ही लोग हैं जिन्होंने कुलदीप सिंह सेंगर से लेकर चिन्मयानन्द जैसे बलात्कारियों-अपराधियों को बचाने में दिन-रात एक कर दिये थे। जम्मू में एक 8 वर्षीय बच्ची के बलात्कारियों और हत्यारों के

समर्थन में इन्होंने रेलियाँ तक आयोजित की थीं। यह भी भूलना नहीं चाहिए कि 2002 में गुजरात में सैकड़ों मुस्लिम स्त्रियों के साथ सामूहिक बलात्कार के बाद उनकी हत्या करने वाले लोग यही थे। हाथरस में बलात्कार और हत्या की शिकार लड़की के अपराधियों को बचाने के लिए योगी सरकार ने आधी रात को ज़बरन उसकी लाश जलवा दी थी। इनके नारी सशक्तीकरण और बेटी-बचाओ के नारों के ढोल की पोल इस बात से खुल जाती है कि आज भारत महिलाओं के लिए सबसे असुरक्षित देशों की सूची में सबसे ऊपर पहुँच चुका है। जिन लोगों की विचारधारा में बलात्कार को विरोधियों पर विजय पाने के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता हो, जिस पार्टी का इतिहास ही बलात्कारियों को संरक्षण देने का रहा हो क्या उनसे हम स्त्रियों के लिए न्याय, सम्मान, सुरक्षा और आज़ादी की उम्मीद कर सकते हैं?

जब सत्ता में ही ऐसे फ़ासिस्ट विराजमान होंगे तो समाज में भी इनके द्वारा पोषित पितृसत्तात्मक पाशविकता और घोर स्त्री-विरोधी मानसिकता को बल मिलेगा। जिस पार्टी के 40 प्रतिशत से अधिक सांसदों, विधायकों के ऊपर बलात्कार, हत्या के गम्भीर मामले दर्ज हों उससे न्याय की उम्मीद करना हमारी बेवकूफी ही होगी। न्याय और सम्मान के लिए हमें खुद संगठित होकर आवाज़ उठानी होगी, लड़ना होगा।

## लगातार होती छँटनी और गहराता आर्थिक संकट

### ● आकाश

एक तरफ़ देश के पूँजीपतियों की दौलत अनन्त गति से बढ़ रही है वहीं दूसरी तरफ़ जनता छँटनी और बेरोज़गारी के रसातल में धँसती चली जा रही है। 2008 की विश्वव्यापी मन्दी से उबरने के लिए पूँजीवादी नीम हकीमों और हुक्मरानों ने जो उपाय दिये थे उसी के गर्भ में आनेवाले समय के भीषण संकट का बुलबुला पल रहा था। आज यह बुलबुला बड़ा होकर अपनी सन्तृप्ति तक पहुँच चुका है और यह अब फूटने के कगार पर खड़ा है। दुनियाभर की तमाम बड़ी कम्पनियों ने बड़े पैमाने पर छँटनी का ऐलान किया है।

पिछले साल (2022) में दुनिया की 50 बड़ी कम्पनियों ने नब्बे हजार से ज्यादा कर्मचारियों को बाहर का रास्ता दिखा दिया। दुनियाभर से तमाम सी.ई.ओ. और बुर्जुआ अर्थशासत्री तक भी लगातार कह रहे हैं कि अभी हालात और भी बिगड़ने वाले हैं। हमारा देश भी इससे अछूता नहीं है। हाल ही में फ़ूड डिलीवर करने वाली देश की दो बड़ी कम्पनियों स्विगी और ज़ोमैटो ने छँटनी का ऐलान किया है। पिछले साल नवम्बर में ज़ोमैटो ने अपने तीन प्रतिशत कर्मचारियों की छँटनी का ऐलान किया था। इस समय तक ज़ोमैटो में 3800 से ज्यादा कर्मचारी काम कर रहे थे। ज़ोमैटो

के इस ऐलान के कुछ ही दिन बाद स्विगी ने भी 250 कर्मचारियों को बाहर का रास्ता दिखा दिया। वैसे तो पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसी घटनाएँ आम हैं। लेकिन आज यह एक या दो कम्पनियों की बात नहीं है। साल 2022 में ही कई टेक और एडटेक कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर छँटनी कर चुकी हैं, जो अब भी बदस्तूर जारी है। अक्टूबर में एडटेक कम्पनी बाइजू ने ऐलान किया कि आनेवाले 6 महीने में 2500 कर्मचारियों को बाहर का रास्ता दिखाया जायेगा। इसके पहले अनएकडेमी पहले 1000 फिर 350 कर्मचारियों को और वेदान्तु 1100 कर्मचारियों को बाहर का रास्ता दिखा चुकी थी। इसके अलावा पिछले साल चार्जबी, कोर्स 24, लेड, ओला, मेजो समेत देश की 52 बड़ी स्टार्टअप कम्पनियाँ कुल 17,989 कर्मचारियों की छँटनी कर चुकी हैं।

एक तरफ़ जहाँ फ़ासिस्ट मोदी सरकार पकौड़ा तलने को रोज़गार बताकर स्टार्टअप की बात करती है, वहीं हालत यह हो गयी है कि 10 प्रतिशत स्टार्टअप भी सफल नहीं हो पा रहे। स्किल इण्डिया, स्टार्टअप इण्डिया जैसी योजनाओं की हालत दयनीय हो चुकी है। सी.एम.आई.ई. की रिपोर्ट के अनुसार पिछले साल सितम्बर में बेरोज़गारी दर 6.43 प्रतिशत थी।

अक्टूबर में यह बढ़कर 7.77 प्रतिशत पर पहुँच गयी। दिसम्बर में आधी रिपोर्ट के अनुसार यह आँकड़ा बढ़कर 8.1 को भी पार कर गया। इसमें अगर शहरी क्षेत्र की बात करें तो शहरी क्षेत्र में दिसम्बर में बेरोज़गारी दर 8.96 प्रतिशत है जबकि ग्रामीण क्षेत्र में यह 7.55 प्रतिशत है। इन आँकड़ों से साफ़ हो जाता है कि शहरी क्षेत्रों में जहाँ स्टार्टअप की संख्या ज्यादा है बेरोज़गारी दर बेहद ही ख़राब हालत में है। अगर हम अलग-अलग राज्यों की बात करें तो कुछ राज्यों में बेरोज़गारी दर देश की औसत बेरोज़गारी दर से भी बेहद ख़राब है। इसमें 30.6 प्रतिशत के साथ सबसे ख़राब हालत हरियाणा की है। राजस्थान में यह 24.5 प्रतिशत, जम्मू-कश्मीर में 23.9 प्रतिशत, बिहार में 17.3 प्रतिशत और त्रिपुरा में 14.5 प्रतिशत है। इन आँकड़ों से साफ़ पता चलता है कि आज देश किस भीषण मन्दी की ओर बढ़ रहा है। सरकार द्वारा बेरोज़गारी के तमाम आँकड़ों को छुपाने की तमाम कोशिशों के बावजूद अर्थव्यवस्था की हालत ही इतनी ख़राब है कि यह छुपाये नहीं छुपती। आर.बी. आई. की मानें तो अर्थव्यवस्था को वापस पटरी पर आते आते कम से कम 12 साल लगेगे (RCF 2021-22)।

आर्थिक संकट बुर्जुआ समाज की अपरिहार्य परिघटना है। पूँजीपति मुनाफ़े

की हवस में मज़दूरों की हड्डियाँ तक निचोड़ कर उनसे काम करवाते हैं। वे ज्यादा से ज्यादा अधिशेष हड़पने की कोशिश करते हैं। साथ ही पूँजीपतियों के बीच आपसी गलाकाटू प्रतिस्पर्धा भी होती है। लेकिन पूँजीपति को तो मुनाफ़े की हवस होती है और इसी हवस को मिटाने की आपसी होड़ के कारण उसे अपना माल बाज़ार में सस्ते से सस्ते में बेचना होता है। हम जानते हैं कि मुनाफ़े का स्रोत बेशी मूल्य है जो केवल जीवित श्रम से ही पैदा होता है। पूँजीपति मज़दूर की श्रमशक्ति ख़रीदता है जिसे वह कम से कम करने की कोशिश करता है ताकि श्रम की उत्पादकता को मशीनों के ज़रिए बढ़ा सके, अपने माल की लागत को कम कर सके और अपने प्रतिस्पर्द्धी पूँजीपतियों को क्रीमते गिराने की प्रतिस्पर्द्धा में पीटकर उनके मुकाबले बेशी मुनाफ़ा ज्यादा से ज्यादा निचोड़ सके। लेकिन चूँकि नया मूल्य जीवित श्रम द्वारा ही पैदा होता है और चूँकि जीवित श्रम के मुकाबले मृत श्रम (मशीनों, कच्चे मालों के मूल्य) की मात्रा प्रति इकाई माल बढ़ती जाती है, इसलिए समूची अर्थव्यवस्था के स्तर पर अन्ततः मुनाफ़े की औसत दर ठीक उन्हीं तरकीबों के कारण गिरती जाती है जिन्हें अलग-अलग पूँजीपति अधिक से अधिक बेशी मुनाफ़ा कमाने के वास्ते

अपनाते हैं। तात्कालिक तौर पर यह प्रक्रिया ज़रूर उसे कुछ मुनाफ़ा बढ़ाने का मौक़ा देती है मगर एक लम्बे दौर में यही पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर के गिरने का कारण बनती है। जब मुनाफ़े की दर गिरती है तो उस क्षेत्र में पूँजीपति निवेश कम कर देता है और फलस्वरूप छँटनी और तालाबन्दी की प्रक्रिया शुरू होती है। मज़दूरों को चाय में पड़ी मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि उत्पादक शक्तियों के पर्याप्त विनाश के कारण लाभप्रद निवेश के नये अवसरों के पैदा होने और बढ़ती बेरोज़गारी के कारण गिरती औसत मज़दूरी के ज़रिए मुनाफ़े की औसत दर वापस स्वस्थ दरों पर नहीं पहुँच जाती है। लेकिन इसी प्रक्रिया में सामाजिक असन्तोष भी अपने चरम पर पहुँचता है, जो कि किसी क्रान्तिकारी पार्टी की मौजूदगी में सामाजिक क्रान्ति का कारण भी बन सकता है। लेकिन यदि ऐसा नहीं होता तो पूँजीवादी व्यवस्था उत्पादक शक्तियों के व्यापक विनाश और औसत मज़दूरी को गिराकर अपने मुनाफ़े की औसत दर को वापस ऊपर ले जाती है और फिर से वही चक्र शुरू होता है : तेज़ी, औसत गतिविधि, संकट और ठहरावा।

(पेज 4 पर जारी)

# हज़ारों मज़दूरों के खून की कीमत पर मना फुटबाल विश्व कप का जश्न

## ● अपूर्व

साल 2010 में क्रतर ने अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण कोरिया और जापान जैसे देशों को पछाड़कर 2022 में होने वाले फुटबाल विश्व कप की मेज़बानी हासिल की। 20 नवम्बर से 18 दिसम्बर तक होने वाले 29 दिनों के फुटबाल विश्व कप की तैयारी के लिए क्रतर ने पिछले 12 सालों में पानी की तरह पैसा बहाया। इस विश्व कप को अबतक का सबसे महंगा फुटबाल विश्व कप बताया जा रहा है। इन 12 सालों में क्रतर ने हर हफ्ते 400 करोड़ रुपये खर्च किये। इसका कुल बजट 17.81 लाख करोड़ तक पहुँच गया है, जो अर्जेंटीना, न्यूज़ीलैण्ड जैसे 10 देशों के सालाना बजट से भी ज्यादा है। इन पिछले 12 सालों में क्रतर ने सात अत्याधुनिक स्टेडियमों, 100 से ज्यादा पाँच सितारा होटलों, नयी स्मार्ट सिटी, नयी मेट्रो लाइन, मॉल, एयरपोर्ट का विस्तार, रेस्तराँ, स्पा, फ़िटनेस सेंटर, वाटर ऐडवेंचर पार्क, स्क्वबा डाइविंग आदि कई सारी चीज़ों का निर्माण किया, जो फुटबाल वर्ल्ड कप प्रोजेक्ट का हिस्सा थे। लेकिन 29 दिनों के जश्न, चमक-दमक बनाने के पीछे का जो अंधेरा है उसे छुपाया नहीं जा सकता है। आइए देखते हैं कि इस जश्न की तैयारी किस कीमत पर हुई है!

## जश्न को अमली जामा ऐसे

### पहनाया गया :

2010 में जब क्रतर ने फ़ीफ़ा वर्ल्ड कप की मेज़बानी हासिल की, तो वहाँ पर फुटबाल विश्व कप की प्रतियोगिता कराने का कोई आधारभूत ढाँचा मौजूद नहीं था। सबकुछ नये सिरे से ही बनाया जाना था। इसके लिए लाखों मज़दूरों की ज़रूरत थी। इसके पहले क्रतर में फ़िलिपीन्स और केन्या के मज़दूर ही ज़्यादातर काम करते थे। लेकिन इस वर्ल्ड कप इन्फ़्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट के लिए बड़े पैमाने पर भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल और श्रीलंका जैसे देशों से प्रवासी मज़दूरों को भरती किया गया। वैसे भी क्रतर की तीस लाख की कुल आबादी में 85 प्रतिशत आबादी प्रवासी मज़दूरों की है। 2010 से पहले भी क्रतर अपने बर्बर श्रम क़ानूनों की वजह से कुख्यात रहा है। क्रतर मध्य एशिया के उन कई देशों में शामिल है जहाँ श्रम क़ानून नाम की कोई चिड़िया नहीं रहती है। क्रतर में एक 'कफ़ालह' सिस्टम चलता है जिसके तहत कोई भी प्रवासी मज़दूर न तो नौकरी बदल सकता है और

न ही अपने मालिक की इजाज़त के बग़ैर देश छोड़कर जा सकता है। प्रवासी मज़दूरों की तनख्वाह, वीज़ा, पासपोर्ट तक ज़ब्त कर लिये जाते हैं।

क्रतर में पिछले दस सालों में वर्ल्ड कप इन्फ़्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट में काम कर रहे 6500 से ज़्यादा मज़दूरों की मौत हुई। 37 हज़ार से अधिक प्रवासी मज़दूर घायल हुए, जिनका समुचित इलाज भी क्रतर सरकार ने नहीं करवाया। इनमें हज़ारों मज़दूर ऐसे हैं जो बहुत ही गम्भीर रूप से घायल हुए हैं और भविष्य में वे शायद ही अपने परिवार के लिए कुछ कमाने के क़ाबिल बन सकें। एक आँकड़े के अनुसार 2010 से हर हफ्ते 12 प्रवासी मज़दूरों की मौत क्रतर में हुई है।

## बेहतर भविष्य के सपने, उम्मीद और आशाएँ और उनके टूटने का बदस्तूर सिलसिला

हमारे देश के बिहार, झारखण्ड, आन्ध्रप्रदेश, तेलंगाना, उड़ीसा आदि कई राज्यों से मज़दूर बेहतर तनख्वाह और बेहतर भविष्य के सपने संजोये हुए क्रतर में काम करने गये। जब वे गये तो स्वस्थ और हट्टे-कट्टे थे, लेकिन जब लौटे तो ताबूत में! यहाँ तक कि मृतकों के परिजनों को मुआवज़ा तक क्रतर सरकार या कम्पनी ने नहीं दिया जिसके मातहत वे काम करने गये थे।

ऐसे ही तेलंगाना के कल्लाड़ी 1300 क्रतरी रियाल (29 हज़ार रुपये प्रतिमाह) के लिए वहाँ नौकरी हासिल करने के लिए लोन लिये। जिस शिविर में उन्हें रखा गया था वहाँ छः से आठ लोग सोते थे, जबकि वहाँ चार लोगों के बैठने की भी जगह नहीं थी। कल्लाड़ी के साथ आये श्रवण बताते हैं कि "स्टेडियम का निर्माण किया जा रहा था और उनके चारों ओर सड़कें बनायी जा रही थीं। उच्च तापमान में काम करने के कारण कल्लाड़ी का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा जिससे उनकी मृत्यु हो गयी"। कल्लाड़ी के परिवार को कोई मुआवज़ा नहीं मिला। उनकी मौत को प्राकृतिक मौत बता दिया गया, जबकि उनकी मौत काम करने के दौरान हुई थी। क्रतर में काम करने के सबसे ख़राब हालातों में वहाँ का तापमान भी है।

इसी तरह से बिहार के दो मज़दूरों जगत और अखिलेश की मौत भी निर्माण के दौरान ज़मीन धँसने से हो गयी। इनको भी कोई मुआवज़ा नहीं दिया गया बल्कि उल्टे इनकी लाशों को भेजने के लिए कम्पनी की तरफ़ से पाँच लाख की माँग

की जाने लगी।

एक नेपाली मज़दूर ने बताया कि उसका जीवन एक कैदी जैसा हो गया है। 12 घण्टे की शिफ्ट चलती है। ओवरटाइम के लिए कोई क़ानूनी दर नहीं मिलती है। खाना ऐसा मिलता है जिसे कुत्ता भी न खाये। 12 घण्टे की शिफ्ट के बाद जिस कैम्प में रुकना पड़ता है वहाँ गन्दगी और बदबू भरी रहती है। एक छोटे-से कैम्प में 7-8 मज़दूरों को रेवड़ों की तरह ठूस दिया जाता है।

40 साल के राजेन्द्र प्रभु वहाँ 2016 में कारपेण्टर का काम करने पहुँचे हुए थे। उन्हें 55 हज़ार रुपये महीने की तनख्वाह बतायी गयी और उन्हें मात्र 22 हज़ार रुपये दिये गये। उड़ीसा के रमेश वहाँ ड्राइवर का काम करते हैं। वे बताते हैं कि मेरी ड्यूटी सुबह 3 बजे से शुरू हो जाती है और रात 11 बजे ख़त्म होती है। मैं इसके ख़िलाफ़ कोई शिकायत भी नहीं कर सकता हूँ।

25 साल के पदम शेखर अपने परिवार को क़र्ज़ और ग़रीबी में छोड़कर गये। एक साल बाद जब वो लौटे तो जीवित नहीं थे। 20 अप्रैल 2016 की सुबह 9:30 बजे बिहार के जलेश्वर प्रसाद (स्टील वर्कर) अल-बेयत स्टेडियम में ख़िलाड़ियों के लिए बनायी जाने वाली टनल के अन्दर काम कर रहे थे। काम करते हुए अचानक गिर गये। दो घण्टे बाद उन्हें मृत घोषित कर दिया गया। उनके परिजनों को बताया गया कि उनकी मौत 'हृदय गति रुकने' से हुई। इन्हें भी कोई मुआवज़ा नहीं दिया गया। जलेश्वर अपने परिवार के अकेले कमाने वाले थे।

ये कहानी उन हज़ारों एशियाई और अफ़्रीकी मज़दूरों के साथ घटी है जो क्रतर में काम करने गये थे। इन चन्द उदाहरणों से वहाँ काम के हालात, परिस्थितियों और माहौल को समझा जा सकता है। हज़ारों मज़दूरों की मौत के बावजूद क्रतर की सरकार ने केवल चार सौ से पाँच सौ मज़दूरों की मौत को स्वीकारा है। भारत के विदेश मंत्रालय ने 2011 से 2022 तक क्रतर में 3313 भारतीय श्रमिकों की मौत की पुष्टि की है। इसी तरह से पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, श्रीलंका और अफ़्रीकी देशों के सैकड़ों-हज़ारों मज़दूरों की मौत हुई है। इसमें एक और बात ग़ौर करने वाली है कि इन देशों की सरकारों ने भी क्रतर में काम के हालात, शोषण और मज़दूरों की मौत पर न तो कोई सवाल उठाया और न ही कोई आपत्ति की। असल में इन सभी

देशों की सरकारें भी अपने देश में मज़दूरों के उन्हीं बर्बर, शोषण, उत्पीड़न को बनाये रखे हुए हैं। इस मामले में ये सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं।

हज़ारों मज़दूरों की लाशों पर फ़ीफ़ा फुटबाल विश्व कप की विलासिता खड़ी की गयी। ये मामला सिर्फ़ यहीं तक नहीं रुका। जब ये प्रोजेक्ट 90 प्रतिशत तक पूरा हो गया तो लाखों मज़दूरों को ज़बर्दस्ती उनके देश वापस भेज दिया गया। मज़दूरों को भेजने का सिलसिला अगस्त 2021 से शुरू हुआ और अप्रैल 2022 तक चलता रहा।

## और इस तरह मुकम्मल हुई जश्न की अन्तिम तैयारी :

फुटबाल विश्व कप शुरू होने के ठीक 15 दिन पहले जब उसकी टिकटों को लेने और पाँच सितारा होटल में ठहरने के लिए बुकिंग की होड़ चल रही थी, उसी समय 5 नवम्बर की रात 10 बजे क्रतर की राजधानी दोहा के अल-मंसौरा ज़िले की एक इमारत को ज़बरन ख़ाली कराया जा रहा था। इमारत की बिजली-पानी का कनेक्शन काट दिया गया था। इस इमारत में रहने वाले लगभग 1200 मज़दूरों को दोहा से 40 कि.मी. दूर बने कैम्पों में ज़बर्दस्ती भेजा जा रहा था। इस इमारत में रहने वाले एक मज़दूर जावेद बताते हैं कि "अभी-अभी बहुत सारे मज़दूर अपनी ड्यूटी ख़त्म करके थके-हारे आराम करने के लिए आये हैं। लेकिन अधिकारियों ने हमें ज़बरन निकालकर इमारतों में ताला लगा दिया है। अब इस ठण्डी रात में हम कहाँ जायें और क्या करें?" मज़दूरों को बेघर करने की यह कार्रवाई फ़ीफ़ा वर्ल्ड कप की उन अन्तिम तैयारियों का हिस्सा थी जो फ़ीफ़ा वर्ल्ड कप की चकाचौंध को बढ़ाने के लिए ज़रूरी था क्योंकि ये मज़दूर उस इलाके में रह रहे थे जहाँ यह वर्ल्ड कप होना था।

## पूँजीवादी व्यवस्था और खेल

वैसे देखा जाये तो खेल मनुष्य की उत्पादन के बाद सबसे स्वाभाविक मानवीय गतिविधियों में से एक है जिसका सभी मनुष्यों को अधिकार होना चाहिए लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में खेल भी एक माल बन जाता है जिसे पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े के हित के लिए इस्तेमाल करता है। पूँजीवाद में खेल अपनेआप में एक उद्योग होने के साथ-साथ बहुसंख्यक उद्योगों में उत्पादित होने वाले मालों के विज्ञापन का एक साधन भी बन जाता है। खेल और फ़िल्म जगत से जुड़े स्टार

खिलाड़ी और कलाकार बड़ी-बड़ी कम्पनियों के ब्राण्ड एम्बेसडर बनकर उनके मालों के प्रचार का काम करते हैं। मज़दूरों की नस-नस से खून-पसीने को निचोड़कर जो अतिरिक्त मुनाफ़ा पूँजीपति वर्ग हासिल करता है उसी का एक छोटा-सा हिस्सा प्रचार के रूप में इन खिलाड़ियों व फ़िल्मी स्टारों को दे देता है जो ज़ाहिर-सी बात है लाखों-करोड़ों में होता है।

इन खेलों के जश्न और चकाचौंध में उन मज़दूरों को भुला दिया जाता है जिनके दम पर इन सारे खेलों के साजो सामान तैयार होते हैं। क्रतर में हो रहे फुटबाल विश्व कप की एक सीट की औसत टिकट 27 हज़ार रुपये से शुरू होकर 14 लाख रुपये तक गयी है। इस विश्व कप के लिए फुटबाल का निर्माण करने वाले पाकिस्तान के एक छोटे-से शहर सियालकोट में रहने वाले मज़दूर बमुश्किल अपना घर चला पाते हैं। दुनियाभर में इस्तेमाल होने वाले फुटबाल का दो तिहाई हिस्सा पाकिस्तान के सियालकोट में ही तैयार किया जाता है। इन फुटबालों को हाथ से सिला जाता है जो बहुत ही बारीक काम है। हर रोज़ 12 घण्टे काम करने के बाद भी यहाँ के मज़दूरों की औसत कमाई 9600 रुपये महीने ही हो पाती है।

पूँजीवादी समाज में खेल एक विशेषाधिकार बन चुका है। यह आम मेहनतकश आबादी की पहुँच से दूर हो गया है। हमारे देश की अस्सी फ़ीसदी आबादी जिन हालातों और जिन जगहों पर रहती है वहाँ खेल के कोई साधन, मैदान आदि ही नहीं है। बहुसंख्यक आबादी खेल और उसकी मानवीय स्वाभाविकता से वंचित कर दी गयी है। यही कारण है कि अरबों की जनसंख्या वाला हमारा देश ज़्यादातर खेलों में पिछड़ा हुआ है। यह अपवादस्वरूप ही होता है कि ग़रीबों-मेहनतकशों के बीच से कोई स्टार खिलाड़ी पैदा हो। पूँजीवादी व्यवस्था बहुसंख्यक आबादी को उसकी मानवीय स्वाभाविकता से वंचित करने का ही काम कर सकती है। इसलिए क्रतर के इस जश्न और उत्साह में जो बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी शामिल नहीं थी वही भविष्य में मानवीय स्वाभाविकताओं की मुक्ति का रास्ता खोलेगी और खेल जैसी स्वाभाविक मानवीय गतिविधि को समग्र मानव के लिए सुलभ बनायेगी।

## लगातार होती छँटनी और गहराता आर्थिक संकट

### (पेज 3 से आगे)

आज हम आर्थिक मन्दी के उसी दौर के साक्षी बन रहे हैं। लगातार तालाबन्दी और बड़े पैमाने पर छँटनी बदस्तूर जारी है। मौजूदा रूस-यूक्रेन युद्ध वास्तव में साम्राज्यवादी युद्ध है जो कि इसी संकट का परिणाम भी है और तात्कालिक तौर पर इस संकट को तीव्र भी कर रहा है। दुनिया के अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्था पहले ही मन्दी की चपेट में थी, कोविड और लॉकडाउन

ने इसमें और भी बढ़ोत्तरी की थी और रूस-यूक्रेन युद्ध ने सोने पर सुहागा कर दिया है। भारत में तो यह प्रक्रिया नोटबन्दी से ही शुरू हो गयी थी। मौजूदा साम्राज्यवादी युद्ध के कारण, दुनियाभर में कई मालों की सप्लाई चेन बाधित हुई हैं और माँग एवम् आपूर्ति असन्तुलन पैदा हुआ है। इसके कारण महंगाई और भी ज़्यादा बढ़ी है और संकट को बढ़ावा दे रही है। आज दुनियाभर की पूँजीवादी सरकारें संकट से कराह रहे पूँजीपति वर्ग

को राहत देने के लिए ही मज़दूरों के हक़ों को कुचलकर अपने आक्रा पूँजीपतियों के मुनाफ़े को बढ़ाने की कोशिशों में लगी हैं। मोदी सरकार द्वारा लाये जाने वाले '4 लेबर कोड' भी उसी का एक उदाहरण है।

लेकिन साथ ही मज़दूर वर्ग भी चुप नहीं है। मज़दूर भी लगातार अपने हक़ के लिए अपनी आवाज़ उठा रहे हैं। दुनिया के कोने-कोने में अपने माँगों को लेकर संघर्ष कर रहे हैं। लेकिन आज

उनके संघर्ष बिखरे हुए हैं और उनमें एक राजनीतिक नेतृत्व और संगठन का अभाव है। इस कमी को पूरा करके ही मज़दूर वर्ग का वर्ग संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था को नेस्तनाबूद करने की शक्ति अर्जित कर सकता है और समूची मेहनतकश जनता को इस कार्यभार को पूरा करने में नेतृत्व दे सकता है। आज हम मज़दूरों को एक बात समझने की ज़रूरत है कि बेरोज़गारी पूँजीवादी समाज की एक लाइलाज बीमारी

है क्योंकि पूँजीपतियों को लगातार बेरोज़गारों की एक रिज़र्व फ़ौज की ज़रूरत होती है। आज हमें इस व्यवस्था में रहकर सिर्फ़ अर्थवादी लड़ाई तक सीमित नहीं रहना है बल्कि व्यवस्थित तरीके से और संगठित तौर पर मुनाफ़े पर केन्द्रित इस पूँजीवादी व्यवस्था का विनाश करके, एक समाजवादी समाज का निर्माण करना ही हमारा कार्यभार है।

# चुनावी शिकस्त देकर फ़्रासीवाद को हराने के मुंगेरी लालों के हसीन सपनों पर एक बार फिर पड़ा पानी!

(पेज 1 से आगे)

चुनाव परिणामों ने एक बार फिर यह सिद्ध किया है कि फ़्रासीवाद को चुनाव में शिकस्त देकर हराने वाले उदारवादियों और सामाजिक जनवादियों की हसरतें कभी पूरी नहीं होने वाली हैं। इन चुनाव परिणामों ने एक बार फिर यह सिद्ध किया है कि पूँजीवादी आर्थिक संकट में फ़्रासीवाद की ज़मीन को उर्वर और विस्तारित होना ही है।

सबसे पहले हम चुनाव परिणामों पर एक नज़र डालते हैं : शुरुआत हिमाचल से करते हैं जहाँ पर भाजपा की हार से सन्तोष की साँस लेते हुए उदारवादियों ने कांग्रेस की जय-जयकार की है। हिमाचल की 68 विधानसभा सीटों पर इस बार कांग्रेस ने 40, भाजपा ने 25, और तीन निर्दलीय उम्मीदवारों ने जीत दर्ज की है। कांग्रेस और भाजपा के 40 और 25 के अन्तर से खुश होने वाले अगर उनके वोटों के प्रतिशत का अन्तर देखें तो यह एक फ़ीसदी से भी कम है। जहाँ कांग्रेस को 18 लाख 51 हजार 714 वोट मिले, वहीं भाजपा को 18 लाख 13 हजार 177 वोट हासिल हुए। महज़ लगभग 38 हजार वोटों का अन्तर यह बताता है कि हिमाचल में भी जनता ने भाजपा को नकारा नहीं है। यह सच है कि हिमाचल प्रदेश में कांग्रेस की जीत होना भाजपा की मोदी सरकार के लिए एक झटका था। यह भी सच है कि जीत आखिरकार जीत होती है और हार हार होती है। इसमें भी कोई दो राय नहीं है कि गुजरात में यदि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बी टीम, आम आदमी पार्टी न होती तो कांग्रेस की स्थिति कहीं बेहतर होती। लेकिन क्या होता तो क्या हो सकता था यह भी पूँजीवादी चुनावों में पूँजी की ताकत से तय होता है। आज भाजपा भारत के पूँजीपति वर्ग को ज़्यादा भा रही है क्योंकि अपने आर्थिक संकट से जूझ रहे पूँजीपति वर्ग को एक तानाशाहाना फ़्रासीवादी पार्टी की आवश्यकता है जो कि हर प्रकार के प्रतिरोध को कुचले, मज़दूरों के अधिकारों को छीने, मुनाफ़े की दर के संकट को दूर करने के लिए मज़दूरों की मज़दूरी को कम करे, और जनता को साम्प्रदायिकता के झगड़े में धकेल दे।

उत्तर प्रदेश के मैनपुरी, खतौली, रामपुर व बिहार के कुढ़नी में भी उपचुनाव हुए। मुलायम सिंह यादव के देहान्त के बाद मैनपुरी लोकसभा का निर्वाचन क्षेत्र ख़ाली हो गया था जहाँ उनकी बहु डिंपल यादव ने यह उपचुनाव जीता। वहीं दूसरी तरफ़ मुज़फ़्फ़रनगर के खतौली विधानसभा उपचुनाव पर भाजपा प्रत्याशी की हार तात्कालिक है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश का यह क्षेत्र पहले भी भाजपा का गढ़ रहा है। यह सीट भाजपा विधायक विक्रम सिंह सैनी को 2013 में हुए

मुज़फ़्फ़रनगर दंगों से जुड़े एक मामले में सज़ा सुनाये जाने के कारण उसकी सदस्यता रद्द होने से ख़ाली हो गयी थी। इस उपचुनाव में सपा गठबन्धन के सहयोगी राष्ट्रीय लोकदल के प्रत्याशी मदन भैया को जीत मिली, जिन्होंने 22 हजार 143 मतों से भाजपा प्रत्याशी व विक्रम सिंह सैनी की पत्नी राजकुमारी सैनी को हराया। इस सीट पर भाजपा की पकड़ इतनी मज़बूत थी कि राष्ट्रीय लोकदल के प्रमुख जयन्त चौधरी ने लोगों के घर-घर जाकर पर्चियाँ तक बाँटीं। फ़िलहाल, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में धनी किसान व कुलकों के बीच हुआ साम्प्रदायिकीकरण का पहलू आर्थिक संकट और बेरोज़गारी के पहलू के मुक़ाबले तात्कालिक तौर पर हलका पड़ गया। लेकिन इसका अर्थ कोई यह अपने नुक़सान पर ही निकाल सकता है कि यह पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भाजपा की निर्णायक हार है। यह बाज़ी 2024 आने तक नये सिरे से किये जाने वाले साम्प्रदायिकीकरण से फिर से पलट सकती है।

रामपुर विधानसभा का उपचुनाव फ़्रासीवादी गुण्डागर्दी का जीता जागता एक उदाहरण बना। मुस्लिम-बहुल इलाके वाली इस सीट पर भाजपा के प्रत्याशी को जीत मिली। इस चुनाव में लोगों ने यहाँ तक शिकायत की कि योगी की पुलिस और भाजपाई गुण्डों ने लोगों को अपने गली-मुहल्लों से निकलकर वोट डालने के लिए जाने ही नहीं दिया। इस विधानसभा उपचुनाव में सबसे कम 33.8 फ़ीसदी वोट ही पड़े। यह क्षेत्र सपा विधायक आजम खान का गढ़ माना जाता है। उत्तर-प्रदेश की योगी सरकार लम्बे समय से आजम खान के पीछे पड़ी हुई है। 2019 के एक नफ़रती भाषण के सिलसिले में आजम खान को दोषी ठहराया गया और बाद में उनकी सदस्यता चली गयी। इसी साल रामपुर लोकसभा उपचुनाव को भी भाजपा ने जीता और उसके बाद विधानसभा उपचुनाव।

बिहार का कुढ़नी विधानसभा उपचुनाव भी भाजपा ने ही जीता। यहाँ भाजपा के केदार प्रसाद गुप्ता ने जदयू के प्रत्याशी को हराया। दिल्ली एम.सी. डी. के चुनाव में आम आदमी पार्टी ने बहुमत हासिल किया। दिल्ली के 250 वार्डों में आप के 134, भाजपा 104, कांग्रेस के 9 और तीन निर्दलीय पार्षद चुने गये। इसमें आप और भाजपा के वोट प्रतिशत का अन्तर तीन फ़ीसदी से भी कम रहा। जहाँ आप को 42.5 फ़ीसदी वोट मिले, वहीं भाजपा को 39.3 तथा कांग्रेस को महज़ 11.6 फ़ीसदी वोट ही मिले। जहाँ तक आम आदमी पार्टी की राजनीति और विचारधारा का सवाल है तो यह वही पार्टी है जिसका नेता यह कहता है कि 'हम हिन्दू हैं तो हिन्दुत्व की ही तो बात करेंगे!' यह उत्तराखण्ड को सभी हिन्दुओं की आध्यात्मिक

राजधानी बनाना चाहता है और नोटों पर गणेश-लक्ष्मी की तस्वीर छपवाना चाहता है! इस बार के गुजरात चुनाव में अपने प्रत्याशी उतारने के बावजूद भी इसने कभी 'गुजरात 2002' की चर्चा नहीं की। गुजरात चुनाव के ठीक पहले बिलकिस बानो के बलात्कारियों और दंगाइयों की रिहाई पर इसने एक शब्द भी नहीं बोला। उदारवादियों, सामाजिक जनवादियों, वामपन्थी बुद्धिजीवियों को 'साफ़-सुथरा' दिखाई देने वाला यह फ़र्जीवाल फ़्रासीवादियों की बी टीम के अलावा और कुछ नहीं है। जिन नवउदारवादी नीतियों से आज पूरे देश की अर्थव्यवस्था और आम मेहनतकश जनता का जीवन तबाह-बर्बाद हो गया है, उन नीतियों पर भी केजरीवाल को कोई आपत्ति नहीं है। बिजली, पानी, भ्रष्टाचार जैसे मुद्दे उछालकर और एक साफ़-सुथरे यूटोपियाई पूँजीवाद का सपना दिखाकर वह एक खाते-पीते अराजनीतिक विचारहीन मध्यवर्ग और टुटपूँजिया वर्ग में यह भ्रम फैलाने में कामयाब हुआ है कि पूँजीवादी व्यवस्था तो ठीक है, बस कुछ 'साफ़-सुथरे' लोग राजनीति में आने चाहिए! आज यह बात भी साफ़ होती जा रही है कि फ़्री बिजली भी एक धोखा ही है। जनता को वास्तव में फ़्री बिजली देने का अर्थ है बिजली के उत्पादन से लेकर उसके वितरण की पूरी व्यवस्था सरकार के हाथ में हो, निजीकरण पूरी तरह से समाप्त हो। लेकिन दिल्ली में 2014 में सरकार बनाने के बाद केजरीवाल ने बिजली के निजीकरण को समाप्त करने के बजाय, बिजली के बिल का एक हिस्सा टाटा व अम्बानी जैसी निजी बिजली वितरण कम्पनियों को सरकारी ख़जाने से देना शुरू कर दिया। लेकिन सरकारी ख़जाने में धन स्वयं जनता पर लगाये गये करों से ही आता है। नतीजतन, जो सब्सिडी बिजली के बिलों पर दी गयी है उसकी क्रीम भी जनता से ही वसूली जा रही है। वहीं दिल्ली में धनी दुकानदारों, कारखाना मालिकों व तमाम व्यवसायियों को सेल्स टैक्स से लेकर श्रम विभाग के छापों से पूर्ण रूप से छूट देकर केजरीवाल ने मज़दूरों को लूटने और टैक्स चोरी करने की पूरी छूट दिल्ली के पूँजीपतियों को दे दी है। यही तो वजह है कि दिल्ली के पूँजीपतियों का नारा है : 'दिल्ली में केजरीवाल, भारत में मोदी'!

इस फ़र्जीवाल की राजनीतिक कलाई और वैचारिक पक्षधरता की लंगोट कई बार खुल चुकी है। लेकिन उदारवादियों, वामपन्थी बुद्धिजीवियों और सामाजिक जनवादियों को कुछ दिखता ही नहीं है और न ही ये देखना चाहते हैं। बुर्जुआ चुनावी संसदीय जनतंत्र का इतना मोटा चश्मा इन्होंने पहन रखा है कि भारत के हिन्दुत्ववादी फ़्रासीवाद को चुनाव से ही ध्वस्त करेंगे

चाहे चुनाव में हिन्दुत्व की बी टीम को ही क्यों न खड़ा करना पड़े। ऐसे में यह समझने की ज़रूरत नहीं है कि दिल्ली एम.सी.डी. चुनाव में 'आप' की जीत हिन्दुत्व की राजनीति की हार है। बल्कि यह उसके सामाजिक जनाधार को विस्तारित ही करती है। अब आते हैं गुजरात में भाजपा की ऐतिहासिक जीत पर :

भारत में हिन्दुत्ववादी फ़्रासीवाद की ज़मीन और उसके सामाजिक आधार के विस्तार को समझने के लिए गुजरात एक मॉडल है। गुजरात चुनाव प्रचार में भाजपा और उसके नेताओं ने साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण, अन्धराष्ट्रवाद और मोदी के विकास मॉडल जैसे भाषणों को खूब हवा दी। यहाँ तक कि चुनाव से ठीक पहले बिलकिस बानो के बलात्कारियों को रिहा कर दिया गया। नरोदा पाटिया में दंगे के दोषी मनोज कुकरानी की बेटा पायल कुकरानी को टिकट दिया गया और उसने सबसे ज़्यादा वोटों से जीत भी हासिल की। गुजरात विधानसभा की 182 सीटों पर इस बार भाजपा ने 156 सीटों पर जीत दर्ज की। गुजरात विधानसभा के इतिहास में यह किसी पार्टी की अबतक की सबसे बड़ी जीत है। पिछली बार की 77 सीटों के मुक़ाबले इस बार कांग्रेस 17 सीटों पर सिमट कर रह गयी। वहीं आम आदमी पार्टी ने भी 5 सीटें जीतकर गुजरात में अपना खाता खोल दिया है। बहुत-सी सीटों पर भाजपा की जीत का कारण आम आदमी पार्टी द्वारा संघियों की बी टीम के समान भाजपा विरोधी वोटों को बाँटना रहा, इसमें कोई शक की गुंजाइश नहीं है।

गुजरात में जहाँ एक तरफ़ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण सबसे ज़्यादा है, वहीं दूसरी तरफ़ भूख, कुपोषण, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी समस्याएँ देश के कई राज्यों से ज़्यादा ख़राब हैं। मोरबी में इतना बड़ा पुल हादसा होने के बाद जहाँ सैकड़ों लोगों ने अपनी जान गँवायी, वहाँ भी भाजपा की ही जीत हुई। यहाँ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का मामला इस क़दर गम्भीर है कि विपक्षी पार्टियाँ भी इस मुद्दे पर बोलने से बचती हैं। बिलकिस बानो प्रकरण पर राहुल गाँधी का बयान आया लेकिन वहीं गुजरात की पूरी कांग्रेस कमेटी इसपर चुप्पी साधे हुए थी। वैसे भी देखा जाये तो कांग्रेस की राजनीति भी शुरू से ही नरम हिन्दुत्व कार्ड खेलने की रही है। 2002 के दंगों के बाद 2004 से 2014 तक केन्द्र में कांग्रेस की सरकार रही लेकिन कांग्रेस ने कभी गुजरात दंगों के असली गुनहगारों को सज़ा दिलाने की कोशिश नहीं की।

गुजरात में हिन्दुत्ववादी फ़्रासीवाद की प्रयोगशाला बनने की भौतिक ज़मीन भी मौजूद है। गुजराती समाज के ताने-बाने में औद्योगिक पूँजीपति,

व्यापारिक पूँजीपति, धनी किसानों-फ़ार्मरों का सपोर्ट बेस बहुत बड़ा है। इसके साथ ही आर.एस.एस. ने तृणमूल स्तर पर दलितों-आदिवासियों को भी अपने संगठन में संगठित करने का काम किया है। गुजरात की सवा छः करोड़ की आबादी में से पौने दो करोड़ प्रदेश के पाँच शहरों अहमदाबाद, बड़ौदा, राजकोट, सूत और भावनगर में रहती है। 90 के दशक में जब आरक्षण विरोधी आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा तो भाजपा ने इन्हीं शहरों में अपना आधार बनाया, जहाँ पटेल, बनिया, जैन और ब्राह्मणों का प्रभाव ज़्यादा था। बाद में आर.एस.एस. के अनुषंगी संगठन 'वनवासी कल्याण आश्रम' ने आदिवासियों के बीच काम करना शुरू किया और उनके बीच हिन्दुत्व की राजनीति को लेकर गये। पिछले लगभग तीन दशकों से भाजपा और आर.एस.एस. ने तृणमूल स्तर से जो साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की नींव खोद रखी है उसने गुजराती समाज के बहुसंख्यक हिन्दुओं को यह मिथ्या चेतना देने का काम किया है कि "हिन्दुत्व की राजनीति में ही हिन्दू सुरक्षित हैं"। चुनाव प्रचार में अमित शाह ने यँ ही नहीं कहा कि "2002 में जब एक बार सबक सिखाया तबसे शान्ति है"। इस "शान्ति" के दो मायने हैं। एक यह कि यह उसी 'मिथ्या चेतना' की अभिव्यक्ति है, जिसके अनुसार 2002 के पहले "शान्ति" नहीं थी यानी हिन्दू सुरक्षित नहीं थे, और दूसरी यह कि ऐसी "शान्ति" पूरे देश में लाने की ज़रूरत है।

इन चुनावों ने फिर यह दिखला दिया है कि फ़्रासीवाद को चुनाव में शिकस्त देकर नहीं रोका जा सकता। फ़्रासीवाद तृणमूल स्तर से खड़ा किया हुआ निम्न बुर्जुआ वर्ग का धुर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है जो वित्तीय और एकाधिकारी पूँजी की सेवा करता है। संघ परिवार का कांडर आधारित सांगठनिक ढाँचा इस प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का हरावल दस्ता है। इसका कारगर प्रतिरोध एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन ही कर सकता है, जिसपर मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति का वर्चस्व एक कांडर आधारित सांगठनिक ढाँचे के माध्यम से स्थापित हो। इसके अलावा चुनावों में हराकर इसे रोकने का सपना देखना 'मुंगेरी लाल के हसीन सपने' से ज़्यादा और कुछ नहीं है। चुनावों में यदि भाजपा हारे भी तो यह भारत में साम्प्रदायिक फ़्रासीवाद की अन्तिम पराजय नहीं होगी। फ़्रासीवाद को आखिरी तौर पर कुचलने का काम देश का सर्वहारा वर्ग समूची मेहनतकश जनता को अपनी अगुवाई में लेकर ही कर सकता है।

# चीन की तानाशाह सत्ता के खिलाफ़ सड़कों पर उमड़ा जनक्रोश

## ● सार्थक

पिछले महीने चीन की सरकार की लॉकडाउन नीतियों के खिलाफ़ चीन की सड़कों पर मज़दूरों और नौजवानों का गुस्सा फूट पड़ा। विरोध प्रदर्शन उत्तर पश्चिमी प्रान्त शिनजांग के उरूमची शहर से शुरू होकर, शेनज़न, शंघाई, बीजिंग, वुहान जैसे बड़े शहरों तक फैल गया। 24 नवम्बर को उरूमची शहर के एक अपार्टमेंट में आग लगने के कारण 10 लोगों की मौत हो गयी थी। यह दुर्घटना चीन के विभिन्न शहरों में विरोध प्रदर्शनों का तात्कालिक कारण बना। लोगों का कहना है कि देश में गैर-जनवादी सख्त लॉकडाउन नीतियों के कारण अग्निशमन विभाग द्वारा अपार्टमेंट में फँसे लोगों को बचाया नहीं जा सका। यहाँ पर हम बताना चाहते हैं कि चीन में लम्बे समय से कोविड वायरस की रोकथाम के लिए सख्त लॉकडाउन लगे हुए हैं। इसे शी जिनपिङ की 'ज़ीरो-कोविड पॉलिसी' के नाम से जाना जाता है। प्रदर्शनकारियों की एक प्रमुख माँग है देश में लगे सख्त व अतार्किक लॉकडाउन नियमों में ढील लाना। जनता में बढ़ते असन्तोष के कारण दिसम्बर महीने के पहले सप्ताह में चीन की सरकार ने देशव्यापी कठोर लॉकडाउन व क्वारेण्टाइन नियमों में ढील दे दी है। लेकिन प्रदर्शनकारियों पर राज्य का दमन पूरे ज़ोरों-शोरों से जारी है। बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ हो रही हैं और पूछताछ की जा रही है। मीडिया पर निरंकुश राज्य के पूर्ण नियंत्रण के कारण विरोध प्रदर्शनों का कोई भी जिक्र मीडिया में नहीं है। सोशल मीडिया से भी विरोध प्रदर्शन से सम्बन्धित सारे पोस्ट हटा दिये गये हैं। इतना ही नहीं पोस्ट लिखने वाले व्यक्तियों की धुँआधार गिरफ्तारी और पूछताछ जारी है।

साफ़ है कि कोविड-सम्बन्धित लॉकडाउन का निरपेक्ष रूप से ना ही समर्थन किया जा सकता है और न ही विरोध। यदि किसी महामारी की रोकथाम के लिए ऐसे लॉकडाउन की आवश्यकता है, तो उसे योजनाबद्ध तरीके से, जनपक्षधर तरीके से और जनवादी तरीके से लागू किया जा सकता है। लेकिन ऐसा किसी वास्तविक समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही हो सकता है, न कि चीन जैसी नकली 'समाजवादी' मगर असल में सामाजिक फ़ासीवादी व्यवस्था में, जहाँ पूँजीपतियों के लाभ की खातिर मज़दूरों-मेहनतकशों पर नंगी तानाशाही लागू है। हम जानते हैं कि पिछले दो महीनों में चीन में ओमिक्रॉन के नये वेरिएण्ट का संक्रमण तेज़ी से फैला है। स्वास्थ्य व्यवस्था पर इसका भारी दबाव पड़ा है और कई जगह अस्पताल संक्रमित मरीजों से भर गया है। संक्रमण को रोकने के लिए सुनियोजित लॉकडाउन व क्वारेण्टाइन नीतियाँ लागू की जा सकती हैं। लेकिन हमें यह याद रखना होगा कि लॉकडाउन अपने आप में कोविड से लड़ने का कोई उपचार नहीं है। सवाल यह है कि आखिर क्यों चीन ने लगभग

तीन सालों के दरमियान अपनी जनता का पूर्ण टीकाकरण नहीं किया? तथ्यों के अनुसार चीन की 80 साल की आबादी का सिर्फ़ 60 प्रतिशत हिस्सा ही है जिसने टीका की पहली खुराक ली है। 50 प्रतिशत ने दूसरी खुराक ली ही नहीं है और सिर्फ़ 20 प्रतिशत ने बूस्टर लिया है। क्यों सरकार ने पर्याप्त संख्या में क्वारेण्टाइन व आइसोलेशन केन्द्र नहीं बनवाये? लोगों को दड़बों जैसे बने क्वारेण्टाइन केन्द्रों और स्कूलों में रखा जा रहा है जहाँ संक्रमण से बचाव की जगह ज़्यादा तेज़ी से संक्रमण बढ़ने का डर होता है। अगर लॉकडाउन को अनियोजित तरीके से ऊपर से थोप दिया जाये और टीकाकरण और स्वास्थ्य सेवाओं को दुरुस्त नहीं किया जाये तो सिर्फ़ लॉकडाउन से बीमारी पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। अभी स्वास्थ्य पर खर्च होने वाले बजट का बड़ा हिस्सा सख्ती से लॉकडाउन लगाने में खर्च हो रहा है जबकि ज़रूरत टीकाकरण और स्वास्थ्य सुविधाओं को बेहतर बनाने की है। ऐसा नहीं करना निश्चित ही जनता के हितों के विपरीत ही जाता है। इससे आम मेहनतकश जनता को कष्ट और परेशानी झेलनी पड़ती है। आपको भी मार्च-अप्रैल 2020 का लॉकडाउन याद होगा। कैसे सड़कों पर हम मज़दूर-मेहनतकश लोग पाँच सौ, हजार या दो हजार किलोमीटर पैदल चलकर घर जाने को मजबूर हुए थे जब भारत में भी बिना किसी योजना के मोदी ने लॉकडाउन की घोषणा कर दी थी। चीन लम्बे समय से ऐसे ही अनियोजित लेकिन सख्ती से लागू होने वाले लॉकडाउन को झेल रहा है।

बहरहाल, चीन के प्रदर्शनकारियों की माँग महज़ 'ज़ीरो-कोविड पॉलिसी' व लॉकडाउन नीतियों में ढील तक सीमित नहीं रही। प्रदर्शनकारी इस तात्कालिक माँग से आगे बढ़कर शी जिनपिङ के गद्दी छोड़ने की माँग भी कर रहे हैं। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के हाल ही में सम्पन्न हुए 20वें राष्ट्रीय सम्मेलन में शी जिनपिङ ने 'ज़ीरो-कोविड पॉलिसी' के द्वारा कोविड की रोकथाम को अपनी सबसे प्रमुख उपलब्धि के रूप में गिनाया था। राष्ट्रीय मीडिया में भी 'ज़ीरो-कोविड पॉलिसी' की सफलता का ढोल बड़ा-चढ़ाकर पीटा गया। इसलिए जनता के द्वारा इस नीति का विरोध और शी जिनपिङ के इस्तीफ़े की माँग को चीन की तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टी के शासन को चुनौती के तौर पर देखा जा रहा है। अपने इसी मुखर राजनीतिक स्वर के कारण सरकार ने प्रतिरोध को बढ़ने से रोकने के लिए सारे सख्त से सख्त क्रदम उठाये। एक ओर लॉकडाउन नीतियों में कुछ ढील देकर जनता के गुस्से पर ठण्डे पानी के छींटे छिड़के, वहीं दूसरी ओर पुलिस और खुफ़िया तंत्र के माध्यम से प्रदर्शनकारियों पर दमन चक्र चलाया जा रहा है।

आज चीन में एक ऐसी सामाजिक-फ़ासीवादी पार्टी सत्ता पर क़ाबिज़ है जो खुद को कम्युनिस्ट बताती है। इसकी

नीतियों और पूँजीपतियों की चाकरी को देखकर कोई भी बता सकता है कि इनमें कम्युनिस्ट कुछ भी नहीं है बस कम्युनिस्ट होने का ढोंग है। 1976 में सर्वहारा वर्ग के महान नेता माओ त्से-तुङ की मृत्यु और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के क्रान्तिकारी हिस्से के संशोधनवादी हिस्से द्वारा दमन के बाद चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी। सर्वहारा वर्ग का ग़दार तड़ शियाओपिङ ने पूँजीवादी पुनर्स्थापना में अग्रणी भूमिका निभायी थी। तड़ शियाओपिङ ने 'चार आधुनिकीकरण', 'बाज़ार समाजवाद' और 'चीनी विशिष्टताओं वाला समाजवाद' के रूप में कई फ़र्जी सिद्धान्त दिये जिसका एकमात्र लक्ष्य था देश में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना को सैद्धान्तिक ज़मीन प्रदान करना। आज चीन महज़ एक पूँजीवादी देश ही नहीं बल्कि एक उभरता हुआ ताक़तवर साम्राज्यवादी देश भी बन गया है जो अमेरिका के साम्राज्यवादी वर्चस्व को टक्कर दे रहा है। चीन का पूँजीपति वर्ग न केवल अपने देश के अन्दर सारे श्रम क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाकर कल-कारख़ानों में मज़दूरों की हड्डियाँ गला रहा है बल्कि एशिया, अफ़्रीका और दक्षिण अमेरिका के देशों में पूँजी निर्यात कर मुनाफ़ा पीट रहा है। अपने सामाजिक-फ़ासीवादी चरित्र के कारण चीन की राज्यसत्ता के पास श्रम पर नियंत्रण के बेहतर तरीके हैं। देशी व विदेशी पूँजी के लिए सस्ती श्रम शक्ति मुहैया करवाकर और पूँजी के हाथों श्रम का बेलगाम शोषण सुनिश्चित कर चीन आज दुनिया का सबसे आकर्षक वर्कशॉप बन गया है।

पूँजी के हाथों श्रम के बर्बर शोषण का एक जाना माना उदाहरण है चोंगचोउ शहर का फ़ॉक्सकॉन कारख़ाना। यह कारख़ाना एप्पल कम्पनी के लिए आईफ़ोन बनाता है। अक्टूबर के आख़िरी सप्ताह में सोशल मीडिया पर एक वीडियो में फ़ॉक्सकॉन के हजारों मज़दूर पैदल कम्पनी परिसर से पलायन करते दिखे। इसकी वजह थी फ़ैक्टरी के अन्दर भयंकर असहनीय और अमानवीय काम करने की परिस्थितियाँ। फ़ैक्टरी को बाहर से सील करके, लगभग तीन लाख मज़दूरों से ज़बर्दस्ती काम करवाया जा रहा था। फ़ैक्टरी के अन्दर कोरोना संक्रमण रोकने के भी कोई ठोस इन्तज़ाम नहीं थे। 22 नवम्बर को मज़दूरों ने अपने बकाया वेतन के भुगतान, बेहतर खाना और बेहतर कार्यस्थिति की माँग करते हुए विरोध प्रदर्शन किया था। विरोध प्रदर्शन को राज्य ने हैजमेट सूट पहने सुरक्षाकर्मियों की लाठियों के नीचे दबा दिया था। इस घटना के बारे में और जानने के लिए इसकी रिपोर्ट 'मज़दूर बिगुल' के दिसम्बर महीने के अंक में आप पढ़ सकते हैं। कुछ साल पहले कई मज़दूरों की आत्महत्या के कारण फ़ॉक्सकॉन सुर्खियों में बना हुआ था। इसका कारण भी कारख़ाने के अन्दर मज़दूरों का बर्बर शोषण था।

फ़ॉक्सकॉन महज़ एक उदाहरण है यह दिखाने के लिए कि किस तरह चीन के मज़दूर पूँजीपतियों की मुनाफ़े की हवस में झुलस रहे हैं। चीन के कारख़ानों में बढ़ती ख़तरनाक दुर्घटनाएँ एक सामान्य बात बनती जा रही हैं। उरूमची में अपार्टमेंट में आग लगने के दो दिन पहले ही हुनान प्रान्त के अन्यांग शहर के एक कारख़ाने में सुरक्षा व्यवस्था की जर्जर हालत के कारण 38 मज़दूरों की आगजनी में मौत हो गयी थी। पूँजीपति वर्ग अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए सुरक्षा इन्तज़ामों पर कम से कम खर्च करता है लेकिन इसकी क़ीमत मज़दूरों को अपनी जान से चुकानी पड़ती है।

राज्यसत्ता के सामाजिक-फ़ासीवादी चरित्र के कारण ज़रूरत पड़ने पर यह पूँजी को बेहतर तरीके से अनुशासित भी कर सकता है ताकि श्रम और पूँजी के बीच का अन्तरविरोध इतना तीखा न हो जाये कि व्यवस्था के अस्तित्व पर ही ख़तरा पैदा हो जाये। लेकिन अन्ततोगत्वा पूँजी की आन्तरिक गति के नियम यहाँ भी लागू होते हैं। मुनाफ़े की गिरती दर के कारण जो पूँजीवादी संकट पूरे विश्व के पैमाने पर परिघटित हो रहा है उससे चीन की पूँजीवादी व्यवस्था अछूती नहीं है। कोरोना काल के शुरूआती दौर में सभी बड़े पूँजीवादी देशों के उत्पादन में गिरावट हो रही थी। इसका फ़ायदा उठाकर चीन के पूँजीपति वर्ग ने क़रीब एक साल तक जमकर मुनाफ़ा पीटा। लेकिन अर्थव्यवस्था में यह उछाल थोड़े समय के लिए ही रहा। नवम्बर 2021 में सम्पत्ति बाज़ार में लम्बे समय से बन रहा गुब्बारा फूटा। एवरग्रान्दे और अन्य कई रियल एस्टेट कम्पनियों का दिवालिया होना इस बात की पुष्टि करता है। इसके पीछे भी मुनाफ़े की गिरती दर की समस्या ही है जिसके कारण किसी एक क्षेत्र में भारी सट्टेबाज़ी होती है। नवम्बर 2022 में चीन की शहरी बेरोज़गारी दर 5.5 प्रतिशत थी। देश की कुल बेरोज़गारी की दर इससे ज़्यादा है क्योंकि चीन के ग्रामीण इलाकों में बेरोज़गारी की दर साधारणतः काफ़ी ज़्यादा रहती है और ग्रामीण आबादी का एक बड़ा हिस्सा नौकरी की तलाश में शहरों की ओर प्रवास करता है। 16 से 24 वर्ष के नौजवानों के बीच बेरोज़गारी की दर दिसम्बर 2022 में क़रीब 20 प्रतिशत थी।

1976 में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बाद चीन में अमीर और ग़रीब की बीच की खाई लगातार बढ़ती गयी है और आज यह अपने चरम पर है। अगर गिनी गुणांक जैसे असमानता मापने वाले पूँजीवादी मानकों की भी बात की जाये तो हम साफ़ देख सकते हैं कि चीन आर्थिक तौर पर एक बहुत असमान देश है। इसका गिनी गुणांक 0.52 है जो भारत और अमेरिका से ज़्यादा है। आज अमेरिका के बाद सबसे ज़्यादा अरबपति चीन में ही हैं। 2020 से 2021 के बीच इन अरबपतियों की कुल सम्पत्ति में 100 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ। पूरे देश की घरेलू सम्पत्ति का 70 प्रतिशत

देश के सबसे अमीर 10 प्रतिशत लोगों के हाथों में है। कोरोना महामारी और अनियोजित लॉकडाउन ने इस आर्थिक असमानता को और ज़्यादा बढ़ाया है। पूँजीवाद अपनी आन्तरिक गतिकी से समाज में एक छोर पर कुछ पूँजीपतियों के लिए असीम समृद्धि और दूसरे छोर पर व्यापक मेहनतकश आवाम के लिए सिर्फ़ ग़रीबी, बेरोज़गारी और बदहाली पैदा कर रहा है। पिछले महीने चीन में जो जनक्रोश सड़कों पर दिखा वह इसी बढ़ती असमानता की राजनीतिक अभिव्यक्ति है।

मेहनतकश जनता की लूट बदस्तूर जारी रह सके इसके लिए चीन की सामाजिक फ़ासीवादी राज्यसत्ता मेहनतकश जनता का राजनीतिक उत्पीड़न भी बढ़ाती जा रही है, जनता के जनवादी व नागरिक अधिकारों को छीनती जा रही है। इसलिए अपने जनवादी व नागरिक अधिकारों की माँग प्रदर्शनकारियों की एक प्रमुख माँग थी। लेकिन सही मायनों में जनता को जनवादी अधिकार सिर्फ़ समाजवाद में ही मिल सकते हैं। अगर चीन में आज सामाजिक-फ़ासीवादी राज्यसत्ता के बदले एक उदार पूँजीवादी राज्यसत्ता होती तब भी मेहनतकश जनता के राजनीतिक उत्पीड़न में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आता। यह अवश्यम्भावी है, पूँजीवादी संकट के गहराने से राजनीतिक उत्पीड़न भी बढ़ेगा और विज्ञान हमें यह सिखाता है कि बिना पूँजीवाद को ख़त्म किये हम पूँजीवादी संकट को ख़त्म नहीं कर सकते। जनता का ध्यान असली मुद्दों से भटकाने के लिए, हर पूँजीवादी देश की तरह, चीन की राज्यसत्ता भी जनता को जातीयता के नाम पर बाँट रही है, अन्धराष्ट्रवाद की आग भड़काकर अपनी गोठियाँ लाल कर रही है। अन्धराष्ट्रवाद को हवा देने के लिए चीनी राज्यसत्ता भारत के साथ सीमा विवाद, दक्षिणी चीन सागर विवाद और ताइवान मसले पर अमेरिका के साथ रस्साकसी का इस्तेमाल करती रहती है।

इसलिए हम भारत के मेहनतकश चीन की मेहनतकश आवाम से यह उम्मीद करते हैं कि वे समस्या की जड़ को पहचानते हुए इसके क्रान्तिकारी समाधान की ओर आगे बढ़ेंगे। लेकिन चीन तो क्या, किसी भी देश का क्रान्तिकारी रूपान्तरण एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के बिना नहीं हो सकता। तमाम देशों की तरह चीन के मज़दूर आन्दोलन के समक्ष भी मुख्य चुनौती है एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण। हम यह उम्मीद करते हैं कि अपने महान नेता माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन में चले ऐतिहासिक समाजवादी प्रयोगों से सीख लेते हुए चीन का मज़दूर वर्ग एक नयी क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी के निर्माण की चुनौती को जल्द अपने हाथों में लेगा।

# भारत-चीन सीमा पर मामूली झड़प और फ़्रासीवादी प्रचारतंत्र को मिला अन्धराष्ट्रवादी उन्माद उभारने का मौक़ा

## ● लता

दिसम्बर 9 को तवांग के यांगसे क्षेत्र में भारतीय सेना और चीन की सेना के बीच मुठभेड़ हुई। यह मुठभेड़ बन्दूकों या हथियारों से नहीं बल्कि छड़ी, डण्डे और लाठी से हुई। दोनों तरफ़ की सेना के जवानों को मामूली चोटें आर्यीं लेकिन किसी की मौत नहीं हुई है। अख़बारों में या समाचार चैनलों में यह ख़बर 12 दिसम्बर के बाद आनी शुरू हुई। गोदी मीडिया के चैनलों ने जवानों की इस मुठभेड़ को इस तरह प्रचारित करना शुरू किया मानो सीमा पर कोई भयंकर युद्ध चल रहा है या युद्ध की तैयारी हो रही है! वह 4 से 5 मिनट का वीडियो आप लोगों में से भी कइयों ने देखा होगा और आपको भी लगा होगा कि यह तो बेहद मामूली झड़प है अगर हम इसकी तुलना सीमा पर होने वाली लड़ाइयों से करें। लेकिन गोदी मीडिया को तो मोदी नाम जपने और अन्धराष्ट्रवाद फैलाने का मौक़ा मिलना चाहिए! तमाम चैनलों पर दिखाया जाने लगा कि भारत युद्ध की तैयारी कर रहा है या कि भारतीय सेना के पास कितने प्रभावी, घातक और आधुनिक हथियार हैं।

ज़ी न्यूज़, रिपब्लिक टीवी, सुदर्शन चैनल, आजतक आदि गोदी चैनलों को यदि आप लगातार देखें तो ऐसा लगेगा मानो अभी देश की एकमात्र समस्या है सीमा विवाद और युद्ध इसका एकमात्र समाधान। सीमा पर अक्सर दोनों तरफ़ की सेनाओं के बीच ऐसी झड़पें और मुठभेड़ होती रहती हैं। लेकिन जब गोदी मीडिया बेरोज़गारी, महँगाई, गरीबी, भुखमरी और बीमारी जैसे असल मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए धर्म, जाति और अन्धराष्ट्रवाद का जैसे हौवा बनाती रहती है तो ऐसे में यह मुद्दा झोलें में टपके आम की तरह गोदी मीडिया को मिल गया! फिर क्या था तिल का ताड़, राई का पहाड़ और बात का बतंगड़ बनना चालू हो गया। जवान मात्र लाठी-डण्डों से लड़ रहे थे लेकिन चैनल पर ऐंकरिंग करने वालों ने मशीनगन फ़ायरिंग, फ़ाइटर जेट, तोप, मिसाइल और बम के धमाके तक दिखा दिये! लगातार चीन की हार अपनी जीत की बात करते मोदी की तारीफ़ में कसीदे पढ़े जा रहे थे। वहीं विपक्ष सरकार पर देश की सुरक्षा को नज़रअन्दाज़ करने का आरोप लगा रहा था। कइयों ने तो गलवान घाटी में हुई हार की भी याद दिलायी। यह बात भी सही है कि आज जब दोनों तरफ़ की सेना मात्र कुछ मिनटों के लिए उलझी और फिर यथास्थिति बहाल हो गयी तो मोदी जी की इतनी प्रशंसा हो रही है, लेकिन जून 2020 को जब गलवान घाटी में चीनी सेना एल.ए.सी. (लाइन ऑफ़ एक्चुअल कंट्रोल यानी नियंत्रण की असल सीमारेखा) को

लाँघकर भारतीय क्षेत्र में घुस आयी थी और भारतीय भूभाग पर बफ़र ज़ोन बना दिया उसकी चर्चा गोदी मीडिया क्यों नहीं करती? उस समय कई जगह तो चीनी सेना भारतीय भूभाग में 40 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र से अधिक अन्दर घुस आयी थी। पूर्वी लद्दाख के चूसुल गाँव में 40 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र अब बफ़र ज़ोन बन गया है। यहाँ भारतीय सेना नहीं जा सकती। जून 2020 से पहले यह भारतीय भूभाग में आता था और यहाँ स्थानीय चरवाहे अपने मवेशी लेकर जाया करते थे। यहाँ भारतीय सेना अपने ही बड़े भूभाग में गश्त नहीं लगा सकती।

सबसे पहली बात यहाँ यह समझना है कि इस प्रकार की झड़पें, सीमा पर मुठभेड़, विवाद या फिर बाक्रायदा युद्ध के पीछे कभी भी दोनों देशों की जनता का कोई हित या उनका कोई आपसी बैर नहीं होता है। इस प्रकार की घटनाओं के पीछे हमेशा ही इन देशों के पूँजीवादी हुक्मरानों के हित और उनके विस्तारवादी व साम्राज्यवादी मंसूबे होते हैं। चीन एक साम्राज्यवादी देश के रूप में उभर चुका है और भारत की अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ हैं। चीन दुनिया के स्तर पर चौधराहट की चाहत रखता है और अमेरिका से चौधरी का खिताब धीरे-धीरे छीन भी रहा है। वहीं भारत एशिया के स्तर पर क्षेत्रीय साम्राज्यवादी व विस्तारवादी महत्वाकांक्षाएँ रखता है। दोनों की सरहदें मिलती हैं, उनमें 1962 में भारतीय विस्तारवाद के कारण एक युद्ध हो भी चुका है और आज चीन स्वयं एक पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देश बन चुका है, तो सीमा विवाद का बना रहना लाज़िमी है। ऐसे में, बीच-बीच में चीनी आक्रामकता के उदाहरण भी पेश होते रहते हैं, सीमा पर मुठभेड़ें और झड़पें भी होती रहती हैं।

बात यहाँ सीमा पर हार या जीत की नहीं है। मेहनतकश जनता के लिए देश काग़ज़ पर बना एक नक्शा मात्र नहीं होता है बल्कि उसमें रहने वाली जनता से बनता है। मज़दूर वर्ग जनवादी और न्यायपूर्ण रूप से सरहदों में निर्धारण का पक्ष लेता है और किसी अन्य पक्ष द्वारा ग़ैर-जनवादी और अन्यायपूर्ण तरीक़े से आक्रामकता प्रदर्शित करने पर केवल आत्मरक्षा के क्रदम के तौर पर सैन्य कार्रवाई का पक्ष लेता है। भारत-चीन सीमा विवाद का एक पुराना इतिहास है जिसके मूल में भारतीय पूँजीपति वर्ग की विस्तारवादी महत्वाकांक्षा थी। आज जब चीन एक साम्राज्यवादी देश में तब्दील हो चुका है तो उसका विस्तारवाद हावी हो चुका है। पूँजीवादी विश्व में सरहदों का विवाद कभी भी सुलझाया नहीं जा सकता। इसकी दो प्रमुख वजहें हैं। पहला युद्ध में जीत हासिल करने वाला

शक्तिशाली पक्ष ही हमेशा सीमारेखा का निर्धारण करता है। इसलिए हर एक युद्ध के बाद हुए समझौते में ही अगले युद्ध के बीज होते हैं। इसलिए सीमा पर विवाद स्थाई तौर पर बना रहता है। दूसरी बात, सभी पूँजीवादी देश आज भयंकर आर्थिक संकट से गुज़र रहे हैं। सभी जगह आम मज़दूर मेहनतकश जनता बेरोज़गारी, महँगाई, बीमारी, भुखमरी और आवास की समस्या का सामना कर रही है। ऐसे में संकट के बीच-बीच में ज़्यादा गहरा हो जाने की स्थिति में सत्ता वर्ग जनता के आक्रोश पर पानी के छींटे डालता रहता है। आक्रोश सड़कों पर फूट न पड़े इसके लिए पूँजीवादी सत्ताएँ अपने पास कुछ रामवाण नुस्खे तैयार रखती हैं। इनमें अन्धराष्ट्रवाद सबसे कारगर नुस्खों में से एक है। बाक़ी सभी नुस्खे उदाहरण के लिए भारत में जाति, धर्म, क्षेत्र और भाषा आदि कभी-कभी कम प्रभावी हो सकते हैं लेकिन अन्धराष्ट्रवाद की लहर लगभग हमेशा ही कामयाब रहती है।

चीन या पाकिस्तान की सीमा पर सेना की झड़प होने पर या तनाव बढ़ने पर चारों ओर युद्ध की चीख-पुकार होने लगती है। यह चीख-पुकार भाजपा की सरकार जब भी रही है तब ज़्यादा हुई है क्योंकि भाजपा की सरकार खुले तौर पर पूँजीपतियों की सेवा में दोनों हाथ जोड़कर खड़ी रहती है और निजीकरण, उदारीकरण और खुले बाज़ार की नीतियों को नंगे तौर पर लागू करती है जिससे जनता में भयंकर महँगाई, बेरोज़गारी, भुखमरी और बीमारियाँ बढ़ती हैं। ऐसे में, जनता के गुस्से को शान्त करने और उनका ध्यान भटकाने के लिए भाजपा सरकार जनता के बीच अन्धराष्ट्रवाद, साम्प्रदायिकता, सवर्णवाद और जातिवाद की ज़हरीली राजनीति भड़काती है। अगर ऐसा नहीं है और भाजपाई सच्चे राष्ट्रवादी हैं तो फिर अभी चीन के साथ जितना व्यापार हो रहा है या पाकिस्तान के साथ जितना व्यापार हो रहा है, भारत सरकार उसे समाप्त क्यों नहीं कर देती है? उनके साथ सारे कूटनीतिक रिश्ते समाप्त क्यों नहीं कर देती? गलवान में 20 से अधिक जवानों की मौत हुई। युद्ध के दौरान चीनी मालों के प्रतिबन्ध की माँग उठने पर भारत सरकार ने व्यापार पर प्रतिबन्ध तो नहीं लगाया लेकिन मात्र कुछ एक सौ मोबाइल ऐप पर प्रतिबन्ध लगाया! यह क्रदम कितना प्रतीकात्मक था इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि 2020 जुलाई के बाद से चीन दूसरे नम्बर का देश बन गया है जिसके साथ भारत का व्यापार सबसे अधिक है! इतना ही नहीं निर्यात की तुलना में भारत चीन से मालों का कहीं अधिक आयात

करता है। वर्ष 2021-22 में भारत-चीन के बीच 115.83 अरब डॉलर का व्यापार रहा। यह राशि कुल विदेशी व्यापार का 11.93 प्रतिशत रही। चीन के साथ निर्यात घाटा 73.13 अरब डॉलर का था यानी कुल व्यापार में 73.13 अरब डॉलर का माल भारत ने चीन से अधिक आयात किया। असल में वर्ष 2021-2022 का निर्यात घाटा वर्ष 2020-21 की तुलना में दो गुना अधिक था यानी 2020-21 में यह 44.02 अरब डॉलर था। वर्ष 2021-2022 का निर्यात घाटा अभी तक का सबसे अधिक बढ़ा घाटा था। यह अनुमान लगाया जा रहा है कि निर्यात घाटा आने वाले समय में और अधिक बढ़ने जा रहा है। लॉकडाउन के समय को छोड़ दिया जाये तो हर महीने चीन से आयात बढ़ा है। जून 2020 में 3.32 अरब डॉलर का आयात आया और गलवान मुठभेड़ के महीने यानी जुलाई 2020 में यह आयात 5.43 अरब डॉलर हो गया, यानी जून की तुलना में दो गुना अधिक उसके बाद से यह हर महीने बढ़ता ही गया है जो इस वर्ष जुलाई में सबसे अधिक 10.24 अरब डॉलर पहुँच गया था। जुलाई 2020 के बाद से वित्त वर्ष 2021-22 के लिए चीन से आयात प्रति महीने औसत 7.88 अरब डॉलर बना रहा। वर्ष 2022-23 के महीनों में यह औसत 8.61 अरब डॉलर पहुँचा रहा। वर्ष 2020-21 में भारत के कुल आयात का 15.42 (94.57 अरब डॉलर) प्रतिशत चीन से रहा। चीन के साथ इस वर्ष भारत का व्यापार घाटा 51 अरब डॉलर जो पिछले वर्ष की तुलना में 39 प्रतिशत अधिक है यानी यह पिछले वर्ष 37 अरब डॉलर था। आयात और निर्यात के बीच का अन्तर आज 80 प्रतिशत है जो अभी से 20 साल पहले 60 प्रतिशत था।

चीन से मुख्य तौर पर बिजली के सामान, बिजली उपकरण, बिजली उपकरणों के कल पुर्जे, साउण्ड रिकॉर्डर और रिप्रोड्यूसर, टेलीविज़न, नूक्लियर रिएक्टर, बॉयलर, मशीन उपकरण और मशीनों के कल-पुर्जे, रासायनिक पदार्थ, प्लास्टिक, प्लास्टिक के सामान, खाद आदि का आयात होता है। भारत में हो रहे चीनी मालों के बढ़ते आयात का अनुपात देखकर आप अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि व्यापार के मामले में भारत की निर्भरता चीन पर अधिक है। सस्ते मालों का उत्पादक होने के नाते चीन तेज़ी से विश्व व्यापार में अपनी बढ़त बना रहा है।

फिर हमारे दिमाग़ में यह सवाल क्यों नहीं आता कि जब गलवान पर झड़प चल रही थी तो उस समय छोटे दुकानदारों, सड़कों पर ठेला और रेहड़ी लगाने वालों पर चीनी सामान और खिलौने रखने पर आरएसएस,

विश्व हिन्दू परिषद, हिन्दू सेना, जैसे हिन्दुत्ववादी व फ़्रासीवादी संगठन के अर्द्ध पागल, सनकी और बर्बर कार्यकर्ता हमले क्यों कर रहे थे? छोटे दुकानदारों, सड़कों पर ठेला और रेहड़ी लगाने वालों ने स्वयं चीन जाकर सामान लाये तो नहीं होंगे। उन्हें यह सामान तब ही मिला होगा जब देश के स्तर पर इन सामानों का आयात हुआ होगा। इन बेचारों के पास इतनी पूँजी और साधन तो नहीं होते कि स्वयं चीन जाकर सामान ला सकें। फ़र्ज़ करें कि कोई जाकर लाता भी है तब भी सामानों के भारत में प्रवेश करने की अनुमति तो भारत सरकार ही देगी। अगर कोई कहता है कि तस्करी भी होती है। होती है लेकिन उस स्थिति में आपको तस्करी के सामान इस तरह छोटी दुकानों और रेहड़ी पर इतने सस्ते में खुले तौर पर नहीं मिलेंगे। सामान आ ही तब रहे हैं जब व्यापार हो रहा है। और दो देशों के बीच व्यापार बिना देशों के हुक्मरानों की आपसी समझ के हो ही नहीं सकता।

भारत और चीन के बीच पिछले दो सालों के व्यापार को देखते हुए क्या यह कहा जा सकता है कि भारत सरकार ने चीन को मुँहतोड़ जवाब दिया या कि व्यापार प्रतिबन्ध लगाकर सीमा विवाद को अपने पक्ष में करने के लिए आर्थिक दबाव डाला? नहीं! चीन के साथ व्यापार इतना लम्बा-चौड़ा हो रहा है और जब प्रतिबन्ध लगाने की बात आयी तो बस ऐप पर प्रतिबन्ध लगाया गया! यदि भारत में हो रहे आयात पर ध्यान दें तो आप देखेंगे कि आयात मालों में अधिक हिस्सा मशीन उपकरणों का है। निश्चित ही ये मशीनें सस्ती होंगी इसलिए खरीदा जा रहा है। मशीनों का इस्तेमाल मज़दूर-मेहनतकश तो करते नहीं हैं। आयात का फ़ायदा यहाँ का पूँजीपति वर्ग उठा रहा है जो अपने मालों की कीमत को कम करने के लिए सस्ती और उन्नत मशीनें मँगाने हैं। ज़रूरत पूँजीपति वर्ग की है और यही वजह है कि व्यापार पर प्रतिबन्ध नहीं लग सकता!

चीन की तरह ही हम देख सकते हैं कि पाकिस्तान सीमा का हंगामा प्रत्येक चुनाव के पहले होता है। पाकिस्तान को नेस्तोनाबूत कर देने और इस्लामाबाद तक तोप लेकर जाने की माँग बेदम होकर मोदी भक्त लगाते हैं। इन भक्तों को इस बात का अन्दाज़ा नहीं होगा कि मोदी के दोस्त अम्बानी और अडानी की कितने करोड़ डॉलर की पूँजी पाकिस्तान में लगी हुई है। 'जंग-जंग' चिल्ला रहे मीडिया को ये सारी ख़बर है लेकिन इस पर सब चुप्पी साधे हुए हैं।

अगर देशों की सत्ताओं के बीच रिश्ते की सच्चाई यह है तो फिर हमारे (पेज 8 पर जारी)

# भारत-चीन सीमा पर मामूली झड़प और फ़्रासीवाद प्रचारतंत्र को मिला अन्धराष्ट्रवादी उन्माद उभारने का मौक़ा

(पेज 7 से आगे)

बीच इतना युद्धोन्माद क्यों? क्यों आरएसएस के लोग और भाजपा के नेता-मंत्री गोदी मीडिया के कार्यक्रमों में जाकर युद्ध का उन्माद भड़काते हैं? क्यों चुनावों के पहले सीमा पर कुछ न कुछ होता ही है और चारों ओर “बदला-बदला” सुनाई देने लगता है? सीमा पर फ़ायरिंग या जवानों की मौत होने पर बदला लेने और युद्ध की बात तो होती है लेकिन उस समय पूरी तरह व्यापार बन्द करने, चीन जैसे साम्राज्यवादी देश की सम्पत्ति ज़ब्त करने और रिश्ते समाप्त करने की बात क्यों नहीं होती? जवाब इतना सरल नहीं है लेकिन अगर आप थोड़ा ध्यान से सोचें तो कठिन भी नहीं है।

सबसे पहली बात बेरोज़गारी, गरीबी, महँगाई, मज़दूरों के काम करने की अमानवीय परिस्थितियाँ, कम मज़दूरी, इन सभी समस्याओं का सामना चीन, भारत और पाकिस्तान की आम मज़दूर-मेहनतकश जनता कर रही है। सभी जगह पूँजीपति मालामाल हो रहे हैं जबकि मज़दूर-मेहनतकश बेहाल, कंगाल और फटेहाल होते जा रहे हैं। कोरोना काल के बाद मज़दूरों की स्थिति बद से बदतर हो रही है और यह बात भारत पर भी उतनी ही लागू होती है जितनी चीन और पाकिस्तान पर। इन देशों के गरीब किसानों-मज़दूरों और आम लोगों की आपस में कोई दुश्मनी नहीं है। तीनों देशों की जनता अपने-अपने शासक वर्गों की लूट का शिकार है। इन देशों में पूँजीवादी व्यवस्था का संकट लाइलाज बीमारी बन चुका है जिसकी क्रीमत जनता कमरतोड़ महँगाई और बढ़ती बेरोज़गारी के रूप में चुका रही है। निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों के विनाशकारी नतीजे दोनों देशों के लोग झेल रहे हैं और आम जनता का बढ़ता असन्तोष बार-बार सड़कों पर फूट रहा है जिससे दोनों के हुक्मरानों की नींद हराम है। अभी चीन में कोरोना बीमारी की वजह से लगे प्रतिबन्धों को लेकर हुआ प्रतिरोध ऐतिहासिक था। चीनी मज़दूरों के काम की अमानवीय परिस्थितियों की खबरें

अक्सर आती रहती हैं। जीवनस्थिति भी बेहद कठिन है। अपने देश की स्थिति आपसे छुपी नहीं है। पाकिस्तान में भी हाल ऐसा ही है। ऐसे में जनता का गुस्सा नियंत्रण से बाहर न हो जाये इसलिए जनता का ध्यान भटकाने के लिए सीमा पर तनाव बनाये रखना और अन्धराष्ट्रवाद को हवा देते रहना हिन्दुस्तान-चीन-पाकिस्तान या कहें पूँजीवादी राष्ट्रों के शासकों के लिए रामबाण नुस्खे-सा काम करता है।

जब पूँजीवादी देशों में युद्ध होता भी है तो उसके पीछे इन देशों की मेहनतकश जनता का कोई बैर नहीं होता है बल्कि इन देशों के पूँजीपति वर्ग की विस्तारवादी व साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ होती हैं। पूँजीपति वर्ग के इन हितों को समूचे देश के “राष्ट्रीय” हितों के रूप में पेश किया जाता है; किसी झण्डे, किसी नक़्शे, किसी गीत के प्रति भावोन्माद भड़काया जाता है और हर नागरिक की इन प्रतीकों के प्रति वफ़ादारी की माँग की जाती है। लेकिन इन सबके पीछे असल में उसी पूँजीवादी शासक वर्ग के हित होते हैं, जो हम मज़दूरों-मेहनतकशों को रोज़ अपने फ़ैक्टरी-कारखानों में उसी प्रकार निचोड़ते हैं, जिस प्रकार शिकंजी में नींबू निचोड़ा जाता है। ये न तो हमें हमारा न्यूनतम वेतन देते हैं, न पक्की नौकरी और न ही अन्य श्रम अधिकार। लेकिन जब इन पूँजीपति वर्गों के हितों और साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं के लिए युद्ध भड़काया जाता है, तो लुटेरों के इस झगड़े में सरहदों पर मरने के लिए भी हम गरीब मेहनतकश मज़दूरों और किसानों के बेटे-बेटियाँ ही भेजे जाते हैं। उनके मुनाफ़े के यज्ञ में भी बलि हम गरीबों की ही चढ़ायी जाती है। इन्हीं मंसूबों को पूरा करने के लिए एक अमूर्त “राष्ट्र”, “पितृभूमि”, “मातृभूमि” के प्रति जज़्बात उभाड़े जाते हैं जबकि सच्चाई यह है कि कोई देश उसमें रहने वाले मेहनतकश लोगों से बनता है जो हरेक चीज़ का उत्पादन करते हैं और देश को चलाते हैं। जब तक ये मेहनतकश लोग शोषण से मुक्त नहीं हैं, अपने ही देश के पूँजीपतियों,

धन्नासेठों, दलालों, धनी व्यापारियों, ठेकेदारों, जॉबरो, डीलरों के हाथों रोज़ लुट रहे हैं, तब तक उनकी आज़ादी का क्या मतलब है? हम किसके लिए लड़ें और क्यों मरें? हमारा दुश्मन देश के बाहर नहीं देश के भीतर है, इस बात को हम जितनी जल्दी समझ लेंगे, उतना बेहतर होगा।

देश के भीतर 80 प्रतिशत आबादी बेहद असुरक्षा, गरीबी में जी रही है। भयंकर बेरोज़गारी, बीमारी, भोजन और आवास का संकट झेल रही है। वहीं मुट्ठीभर आबादी ऐशों-अय्याशियों के समन्दर में गोते लगाती है, देश के 80.8 प्रतिशत सम्पत्ति पर अधिकार सबसे अमीर ऊपर की 10 प्रतिशत आबादी का है और देश की बाक़ी बची 80 प्रतिशत आबादी में से 50 प्रतिशत के पास मात्र देश की कुल सम्पदा का 2.1 प्रतिशत है। आप समझ ही सकते हैं जब मज़दूर-किसान-मेहनतकश के बेटे-बेटियाँ सीमा पर अपनी जान दे रहे होते हैं तो वे इन धन्नासेठों की सम्पत्ति की रक्षा कर रहे होते हैं और इन्हीं के साम्राज्यवादी और विस्तारवादी मंसूबों की क्रीमत चुका रहे होते हैं।

इतना ही नहीं हम मज़दूर और आम मेहनतकश जनता को यह समझना बेहद ज़रूरी है कि पूँजीवादी व्यवस्था में युद्ध भी एक व्यापार होता है। पूँजीवादी विश्व में सबसे बड़ा और महँगा व्यापार हथियारों, जंगी विमानों और पोतों का होता है। जीडीपी का सबसे बड़ा हिस्सा हथियारों की ख़रीद-फ़रोख़्त और सेना के रख-रखाव में खर्च होता है। पब्लिक सेक्टर के विशाल सामरिक उद्योग तो सेना को कल-पुर्जे, हथियार आदि सप्लाई करते ही हैं, दुनिया के सभी साम्राज्यवादी देशों की हथियार-निर्माता कम्पनियों से ख़रीदारी करने वाले तथाकथित “तीसरी दुनिया” के देशों में भारत सबसे आगे है। इतना ही नहीं और अब तो अडानी-अम्बानी और अन्य निजी कम्पनियों को हथियार बनाने और सुरक्षा के काम सौंपे जा रहे हैं। और तो और सभी क्षेत्रों की तरह यहाँ

भी सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को कम और निजी क्षेत्रों के पूँजीपतियों को बढ़ावा दिया जा रहा है जिसकी सबसे नंगी मिसाल राफ़ेल घोटाला है। आज पूरी दुनिया के साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ संकट में हैं। युद्धों में होने वाली तबाही और हथियारों की बिक्री उनके संकट को तात्कालिक तौर पर दूर करने में हमेशा काम आते हैं। ये साम्राज्यवादी गिद्ध भी चाहते हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप में सैनिक तनाव की आग सुलगती रहे। अगर युद्ध भड़कता है तब तो साम्राज्यवादी गिद्धों की चाँदी होगी। भारत सरकार जनता का पेट काटकर जमकर हथियार ख़रीदेगी और अमेरिका, फ़्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी के साम्राज्यवादियों को अपना संकट थोड़ा और टालने का मौक़ा मिल जायेगा। साथ ही, भारत में हथियार बनाने वाले पूँजीपतियों को भी फ़ायदा पहुँचेगा।

हमें यह भी समझना होगा कि पूँजीवादी विश्व में सरहद का निर्धारण युद्ध में विजयी शक्तिशाली देश करता है। इसलिए अगले युद्ध के बीज युद्ध के बाद होने वाले समझौते में ही होते हैं और सीमा विवाद जारी रहता है। चीन एक साम्राज्यवादी देश है जो आर्थिक तौर पर भी भारत से कहीं ज़्यादा शक्तिशाली है। सामरिक तौर पर भी चीन और भारत में कोई तुलना नहीं की जा सकती है। लेकिन बीच-बीच में भारत भी अपनी शर्तों को लागू करने के लिए विश्व के अन्य साम्राज्यवादी देशों के साथ समीकरण बनाकर दबाव बनाने का प्रयास करता है। भारत एशिया में अपनी क्षेत्रीय चौधराहट स्थापित करने की अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ रखता है। दोनों देशों की पूँजीवादी राज्यसत्ताएँ विस्तारवादी मंसूबे रखती हैं। ऐसे में सीमा विवाद के समाधान की कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसे में यदि कोई साम्राज्यवादी युद्ध भड़कता है, तो उसके पीछे केवल दोनों देशों के हुक्मरानों और आम तौर पर साम्राज्यवाद का हित होगा हालाँकि उनके युद्ध के महायज्ञ में बलि देने के लिए अन्धराष्ट्रवाद फैलाकर जनता को

आमंत्रित किया जायेगा।

जब साम्राज्यवाद और फ़्रासीवाद अन्धराष्ट्रवादी भावनाओं का उन्माद हमारे बीच पैदा कर रहा होता है तो अक्सर मध्यवर्ग की तरह ही हम मज़दूर वर्ग के भी लोग युद्ध छेड़ देने के सुर में सुर मिलाने लग जाते हैं। हमें कुछ पल ठहरकर सोचना चाहिए कि युद्ध किसके हितों के लिए हो रहा है और अगर वह हुआ तो हमें क्या मिलेगा? कारगिल युद्ध के कारण अर्थव्यवस्था पर क़रीब 10 हजार करोड़ का अतिरिक्त बोझ पड़ा था और नयी सैनिक चौकियों तथा अन्य नियमित सामरिक खर्चों के रूप में हज़ारों करोड़ का सालाना खर्च बढ़ गया था। पिछले कुछ वर्षों से सरकार का फ़ौजी खर्च लगातार बढ़ता ही रहा है। फ़ौजी खर्च अभी ही स्वास्थ्य, शिक्षा और तमाम सामाजिक सेवाओं पर होने वाले कुल खर्च के तीन गुने से भी अधिक रहा है। यह अलग बात है कि इस भारी-भरकम सैन्य खर्च के बावजूद न तो सीमाओं पर घुसपैठ रुकी, न आतंकवादी घटनाएँ और न ही समय-समय पर दोनों ओर से होती रहने वाली गोलीबारी रुकी है। बल्कि यह घटनाएँ बढ़ ही रही हैं। जाहिर है, यह सारा खर्च हमसे ही वसूला जाता है तमाम करों के ज़रिए जो कि महँगाई को बढ़ाते हैं। लेकिन पूँजीपतियों, नेताओं-मंत्रियों की अय्याशियों में तो कभी कोई कमी नहीं आती है और पूँजीपतियों को अरबों-खरबों के करों की छूट मिलती रहती है। फिर इस खर्च को भी हम मज़दूर-मेहनतकश के कन्धों पर ही डाल दिया जाता है। ऐसे में, हम मज़दूरों को यह समझ लेना चाहिए कि युद्ध के इस शोर में सुर मिलाना बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना वाली वाली बात होगी। सभी देशों के मज़दूरों-मेहनतकशों से हमारी एकजुटता है और सभी साम्राज्यवादियों और पूँजीपति वर्गों से हमारी दुश्मनी। लेकिन हमारा सबसे बड़ा दुश्मन हमारे देश के भीतर, हमारे देश का पूँजीपति वर्ग है। हर हालत में हमारे संघर्ष का निशाना हमारा यह दुश्मन ही होना चाहिए।

## इन चुनौतियों का मुक़ाबला मज़दूर वर्ग कैसे कर सकता है?

(पेज 10 से आगे)

भारतीय क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी का निर्माण है। देश में क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी खड़ी करने की यह पहल चल भी रही है और हम सभी मेहनतकश-मज़दूर साथियों से इस पहल में शामिल होने की अपील करते हैं। दूसरा अहम कार्यभार है एक देशव्यापी क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन का निर्माण करना जो उक्त पार्टी के नेतृत्व में ही हो सकता है। एक ऐसा

आन्दोलन ही देशभर में मेहनतकश जनता के आर्थिक व राजनीतिक हितों के लिए संघर्ष के कार्यभार को पूरा कर सकता है। तीसरा कार्यभार है सिर्फ़ आर्थिक संघर्षों तक सीमित न रहते हुए, व्यापक निम्न-मध्यवर्गीय आबादी को जागृत, गोलबन्द और संगठित करना और आम मेहनतकश आबादी की बस्तियों को फ़्रासीवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष का केन्द्र बनाना और वहाँ से संघी ताक़तों

को खदेड़ना। चौथा अहम कार्यभार है, समूचे फ़्रासीवादी मीडिया के झूठे प्रचार का मुक़ाबला करने के लिए एक जनता के क्रान्तिकारी वैकल्पिक मीडिया को खड़ा करना। जनता के अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, संगीत, नाटक, फ़िल्मों व सोशल मीडिया में इन्क़लाबी दखलन्दाजी के ज़रिए फ़्रासीवादी प्रचार के वायरस के विरुद्ध कारगर वैक्सीन का इस्तेमाल करना : यानी जनता तक जनता का सच

पहुँचाना और फ़्रासीवादी मिथ्याप्रचार को बेनकाब करना। पाँचवाँ अहम कार्यभार है देश में जनवादी अधिकारों और स्पेस पर मोदी-शाह की फ़्रासीवादी सरकार द्वारा किये जा रहे सभी हमलों का पुरजोर विरोध करना और उन्हें नाकाम करना। यह कार्यभार महज़ विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवी और छात्र नहीं कर सकते हैं। जनवादी अधिकार केवल उनके लिए मायने नहीं रखते हैं, हमारे लिए भी मायने

रखते हैं और जब तक क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग इनके खिलाफ़ एक व्यापक जनान्दोलन को नहीं खड़ा करता है, तब तक जनवादी अधिकारों की हिफ़ाज़त मुमकिन नहीं है।

आइए, इस नये साल को फ़्रासीवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी नये क्रान्तिकारी जनसंघर्षों का वर्ष बनायें।



# नये साल में मज़दूर वर्ग के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ क्या हैं? इन चुनौतियों का मुक़ाबला मज़दूर वर्ग कैसे कर सकता है?

(पेज 1 से आगे)

बाँटकर शासन कर रही है। यह अकारण नहीं कि गुजरात में भाजपा बहुमत से जीती है और उसे गुजरात में 2017-21 तक इलेक्टोरल बॉण्ड द्वारा स्वीकार करने वाले फ़ण्ड का 94 प्रतिशत हिस्सा मिला है। बीते साल चुनावी ट्रस्टों को कारपोरेट चन्दे से मिले 487 करोड़ रुपये में से अकेले 351.5 करोड़ रुपये भाजपा को मिले हैं। यह अन्य सभी पार्टियों को मिले कुल चन्दे से ढाई गुना अधिक है। पूँजीपति वर्ग द्वारा दिये गये इस अभूतपूर्व समर्थन की सूद समेत भरपाई भारतीय जनता पार्टी की मोदी सरकार ने की भी है। पिछले 5 सालों में मोदी सरकार ने कारपोरेट कर्जे का दस लाख करोड़ से अधिक का बकाया माफ़ कर दिया है। आर्थिक संकट में जकड़ी अर्थव्यवस्था से उबरने के लिए पूँजीपतियों को जो 'मज़बूत नेतृत्व' चाहिए था वह उन्हें मोदी-शाह सरकार के रूप में मिल गया है! कागज़ों पर मौजूद श्रम कानूनों के भी खात्मे की ओर कदम बढ़ाकर इस मायने में मोदी सरकार ने अपने आक्राओं को प्रसन्न किया है।

एक सशक्त मज़दूर आन्दोलन के अभाव में मोदी सरकार मज़दूरों के सभी हक़-अधिकारों पर बुलडोज़र चला रही है। कोविड काल के पहले से मौजूद आर्थिक मन्दी कोविड काल में और भयंकर हुई और अब भी इससे उबरने का कोई रास्ता नहीं नज़र आ रहा है। उल्टे 2023 में एक भारी मन्दी दुनिया का इन्तज़ार कर रही है। अब इस बात को स्वयं पूँजीवादी व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदार व अर्थशास्त्री मान रहे हैं। आने वाले साल में आर्थिक मन्दी नयी आक्रामकता के साथ दुनिया को अपनी गिरफ़्त में लेने वाली है। ऐसे में यह उम्मीद की जा सकती है कि भारत समेत समूची दुनिया में पूँजीपति वर्ग और उसकी सरकारें मज़दूरों के हक़ों-हुक़ूम पर अपने हमलों को बढ़ायेगी। मुनाफ़े की गिरती औसत दर का संकट तात्कालिक तौर पर तभी दूर किया जा सकता है जबकि पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी को घटाने के लिए उसके श्रम अधिकारों को छीने। इसलिए आने वाले साल में मज़दूर वर्ग को अपने बिखराव को दूर करना होगा, अपने एकजुट और सूझबूझ वाले राजनीतिक नेतृत्व को तैयार करने की दिशा में आगे बढ़ना होगा और अपने वर्ग संघर्ष को नये सिरे से राजनीतिक तौर पर संगठित करना होगा।

दुनियाभर में संकट गहरा रहा है और रूस-यूक्रेन युद्ध में उलझी साम्राज्यवादी शक्तियाँ संकट से उबरने का कोई रास्ता नहीं देख पा रही हैं। वास्तव में, रूस-यूक्रेन युद्ध स्वयं गहराते संकट का ही परिणाम है। जब संकट गहराता है तो सभी साम्राज्यवादी देश व साम्राज्यवादी धुरियाँ लाभप्रद निवेश के घटते अवसरों, बाज़ारों, सस्ते कच्चे माल और सस्ती श्रमशक्ति तथा प्राकृतिक संसाधनों व

ईंधन के सीमित स्रोतों पर क़ब्ज़ा करने के लिए आपस में पहले से भी ज़्यादा आक्रामक रूप में होड़ करती हैं। संकट के दौर में तीखी और हिंस्र होती इस होड़ का नतीजा ही हमारे सामने साम्राज्यवादी युद्धों के रूप में सामने आता है। जहाँ साम्राज्यवादी युद्ध तात्कालिक तौर पर आर्थिक संकट को बढ़ावा देते हैं, जैसे कि रूस-यूक्रेन युद्ध कर रहा है, वहीं वे उत्पादक शक्तियों का विनाश करके फिर से मुनाफ़ा देने वाले निवेश करने के नये अवसर भी पैदा करता है। इस रूप में युद्ध संकट का नतीजा भी होता है और संकट दूर करने का एक रास्ता भी।

लेकिन साथ ही युद्ध तमाम युद्धरत देशों के भीतर राजनीतिक संकट, सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा और अनिश्चितता और व्यापक जनअसन्तोष को भी जन्म देता है। यदि कोई क्रान्तिकारी हिरावल सर्वहारा पार्टी मौजूद हो तो वह व्यापक मेहनतकश जनता के सामने युद्ध के असली साम्राज्यवादी चरित्र को जनता के समक्ष साफ़ कर उसे क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में तब्दील कर सकती है, यानी, देश की मेहनतकश जनता को यह सच्चाई समझा सकती है कि उसकी दुश्मन किसी दूसरे देश की जनता नहीं बल्कि खुद उसके अपने देश का पूँजीवादी शासक वर्ग है। लेकिन ऐसा न होने पर पूँजीपति वर्ग देश की जनता को अन्धराष्ट्रवाद में बहाने और अपने मुनाफ़े की खातिर जनता के बेटे-बेटियों के खून की कुर्बानी देने में कामयाब हो जाता है। यह समझना हम भारत के मेहनतकशों के लिए भी ज़रूरी है क्योंकि संकट से बाहर निकल पाने का कोई रास्ता नज़र न आने पर भारत का पूँजीपति वर्ग भी देश को युद्ध के विनाश में धकेलने का विकल्प अपने लिए खुला रखे हुए है, हालाँकि इसकी सम्भावना कम है। यही वजह है कि चीन और पाकिस्तान का हौवा खड़ा कर देश की जनता के भीतर अन्धराष्ट्रवाद की सिगड़ी जलाये रखने का यत्न मोदी सरकार और गोदी मीडिया लगातार कर रही है।

लेकिन फिर भी ज़्यादा सम्भावना इसी बात की है कि व्यापक जनअसन्तोष से निपटने के लिए मोदी सरकार और समूचा संघ परिवार देश को फिर से साम्प्रदायिक तनाव की लहर में बहाने का प्रयास करेगा ताकि बेरोज़गारी, महँगाई, महामारी से निपटने की नाकामी, अनियोजित लॉकडाउन थोपने से लेकर नोटबन्दी और जीएसटी के मोर्चे तक पर हुई नाकामी को छिपाने और उनसे ध्यान भटकाने का काम किया जा सके। इस साज़िश के कारगर साबित न होने पर देश का शासक वर्ग देश को युद्ध में धकेलने के विकल्प पर सोचने के लिए भी मजबूर हो सकता है।

हर बार चुनावों से पहले मोदी सरकार और संघ ने आम मेहनतकश जनता का ध्यान असल मुद्दों से भटकाने के लिए 'बाँटो और राज करो' की

नीति अपनायी है और जनप्रतिरोध को कुचलने के लिए देश को दंगों की आग में झोंका है। 2024 के लोकसभा चुनाव और उसके पहले कर्नाटक और महाराष्ट्र चुनाव के लिए भी भाजपा-आरएसएस इस नये वर्ष में साम्प्रदायिकता की अंगीठी में देश को झोंकने का प्रयास कर सकती है।

## आने वाले साल की चुनौतियाँ

मज़दूर वर्ग के समक्ष सबसे पहली चुनौती देश में मौजूद साम्प्रदायिकता की लहर है, जो कि और कुछ नहीं बल्कि हमारे देश समेत समूची पूँजीवादी दुनिया में मौजूद आर्थिक संकट का ही राजनीतिक परिणाम है। भाजपा और संघ के प्रचार तंत्र और गोदी मीडिया ने हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर अभूतपूर्व नफ़रत फैलायी है। बीते साल ज्ञानवापी, कृष्णजन्मभूमि विवाद से लेकर तमाम शहरों में मन्दिर-मस्जिद मुद्दे पर लोगों को बाँटने का काम किया गया है। मदरसों की जाँच-पड़ताल से लेकर रामनवमी पर मुस्लिम मेहनतकश जनता की बस्तियों पर हमला करने का बहाना बनाकर भाजपा केरल से लेकर महाराष्ट्र, कर्नाटक तक में अपने साम्प्रदायिक फ़ासीवादी प्रचार को फैलाती रही है। श्रद्धा वॉकर हत्याकाण्ड पर 'लव जिहाद' की धुन्ध फैलाने का काम संघ की मशीनरी और भाजपा तथा मीडिया ने किया। महाराष्ट्र में पिछले एक महीने से संघी संगठन 'लव जिहाद' के मसले पर अभियान चलाने में जुटे हैं और शिन्दे-देवेन्द्र फडनविस सरकार ने 'लव जिहाद' के खिलाफ़ कानून लाने की बात भी की है और अन्तरजातीय शादियों की जाँच-पड़ताल करने को कहा है। हाल ही में एक टीवी सीरियल अभिनेत्री की मृत्यु को 'लव जिहाद' का मामला बनाकर पेश करने में गोदी मीडिया लगा हुआ है। भाजपा ने इन सभी ग़ैर-मुद्दों को बेहद योजनाबद्ध तरीक़े से आम मेहनतकश आबादी के जीवन का मुख्य मसला बनाने की कोशिश की है। दिल्ली नगर निगम चुनावों में भाजपा ने सीएए-एनआरसी आन्दोलन के बाद संघ द्वारा भड़काये गये दंगों का लाभ भी उठाया और साथ ही 'लव जिहाद' के नाम पर चल रहे फ़ासीवादी अल्पसंख्यक-विरोधी प्रचार का भी फ़ायदा लिया। गुजरात चुनाव में भाजपा की सफलता का बड़ा कारण यह साम्प्रदायिक प्रचार और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बी टीम आम आदमी पार्टी द्वारा भाजपा-विरोधी वोटों को बाँटना था। एक धार्मिक कट्टरपन्थी व साम्प्रदायिक आम सहमति बनाकर अल्पसंख्यक आबादी को नक़ली दुश्मन के तौर पर पेश करना और फिर देश की सभी समस्याओं का ठीकरा उनके

माथे फोड़ना फ़ासीवाद की चारित्रिक अभिलक्षणिकता होती है। कारपोरेट मीडिया, भाजपा आईटी सेल और सरकारी प्रचार तंत्र भी इस झूठे प्रचार को फैलाने में लगा रहता है।

फ़िल्म के माध्यम का इस्तेमाल फ़ासीवादी प्रचार के रूप में करने के मामले में जर्मनी के अपने नात्सी दादाओं-परदादाओं से भी भारत के हिन्दुत्व फ़ासीवादी सीख रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दुत्ववादी प्रचार को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर अंजाम देने वाली दर्जनों फ़िल्में बनी हैं। नात्सी जर्मनी में हिटलर के प्रचार मंत्री गोएबल्स ने भी जर्मन फ़िल्म उद्योग को एक सशक्त फ़ासीवादी प्रचार तंत्र में तब्दील कर दिया था। ठीक इसी लीक पर भाजपा और संघ बॉलीवुड का इस्तेमाल करने की परियोजना पर लगातार काम कर रहे हैं और इसके लिए संघी मानसिकता रखने वाले कलाकारों का इस्तेमाल कर रहे हैं और जो लोकप्रिय कलाकार संघी मानसिकता नहीं रखते, उन्हें सरकारी एजेंसियों द्वारा डरा-धमकाकर और उनकी रीढ़विहीनता का इस्तेमाल करके उन्हें संघी प्रचार का उपकरण बनने पर मजबूर कर रहे हैं। एक तरफ़ तो वे विवेक अग्निहोत्री-सरीखे टड्डुओं की फ़िल्मों को अपने प्रचार तंत्र की बंदौलत चमकाते हैं तो दूसरी तरफ़ पूरे भारतीय फ़िल्म उद्योग पर संघ के एजेण्डे को प्रचारित करने का दबाव बनाया जाता है।

व्यापक मेहनतकश जनता को मोदी-शाह सरकार की इन साम्प्रदायिक रणनीतियों को समझने की आवश्यकता है। उन्हें यह समझ लेना होगा कि उनका दुश्मन किसी धर्म या जाति का मज़दूर व मेहनतकश नहीं है, बल्कि देश का शासक पूँजीपति वर्ग है, चाहे वह किसी भी धर्म या जाति से आता हो।

मज़दूर वर्ग को जिस दूसरी चुनौती का सामना करना है वह है शासक वर्ग द्वारा जातिगत आधार पर जनता को बाँटा जाना। जातिगत समीकरणों के आधार पर चुनावी जीत की आस लगाने वाली क्षेत्रीय पार्टियों को भाजपा इस खेल में मात दे रही है। भाजपा और आरएसएस सूक्ष्म स्तर पर सामाजिक संरचना की जाँच-परख कर सोशल इंजीनियरिंग कर जातिगत समीकरण बनाते हैं। उत्तर प्रदेश में पंचायत चुनाव से पहले भी योगी सरकार इस दाँव को खेल रही है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा अन्य पिछड़ी जातियों को आरक्षण का फ़ैसला रद्द होने पर यूपी सरकार ने फ़िलहाल चुनाव ही टाल दिये! इस पहचान की राजनीति में भाजपा ने हर क्षेत्रीय पार्टी को अस्मिता के आधार पर की जाने वाली

राजनीति में पछाड़ा है। वर्ग आधारित राजनीति और मज़दूर-मेहनतकशों की एकता के आधार पर ही इस चुनौती का सामना किया जा सकता है। यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि जातिगत अस्मिता की राजनीति करने वाली तमाम चुनावबाज़ पूँजीवादी पार्टियाँ भी भाजपा के जातिवादी खेल के साथ मोर्चा बनाती हैं और अलग-अलग समय पर इनमें अम्बेडकरवादियों से लेकर पिछड़ी जातियों के शासक वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली तमाम पार्टियाँ शामिल रहती हैं। पिछले विधानसभा चुनावों में ही मायावती की बसपा ने उत्तर प्रदेश में भाजपा की जीत में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, यह सभी ने देखा है। क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को जाति की समूची राजनीति को ही सिरे से नकारना होगा और यह समझना होगा कि आज जाति व्यवस्था शासक वर्ग द्वारा उसे बाँट रखने, उसे दबाये रखने, उसका उत्पीड़न करने और आपस में लूट के उपकरण मात्र है। मेहनतकश वर्ग को अपने भीतर मौजूद जातिगत पूर्वाग्रहों को समाप्त करना होगा और यह काम भी वर्ग संघर्ष में साझा भागीदारी के आधार पर किया जा सकता है। उसे समझ लेना होगा कि समाज में आज एक ही बँटवारा उसके लिए मायने रखता है : वे जो दूसरों की मेहनत का फल लूटकर परजीवी के समान जीते हैं और वे जो अपनी मेहनत के बूते समूचे देश की हरेक ज़रूरत को पैदा कर रहे हैं, बना रहे हैं; यानी, पूँजीपति वर्ग और आम मेहनतकश जनता के बीच का बँटवारा।

अन्धराष्ट्रवाद की लहर का मुक़ाबला करना मज़दूर वर्ग के समक्ष तीसरी बड़ी चुनौती है। साम्प्रदायिकता और जातिवाद का नशा जब आम मेहनतकश जनता पर अधिक कारगर होता नहीं दिखायी देता है तो मोदी सरकार, भाजपा आईटी सेल, संघी काडर का ज़मीनी प्रचार और गोदी मीडिया का विराट प्रचारतंत्र अन्धराष्ट्रवाद की लहर को उभारने का प्रयास करते हैं। चीन और पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध का हौवा खड़ा किया जाता है और 'राष्ट्रीय सुरक्षा' के नाम पर आम जनता के रोज़ी-रोटी, कपड़ा और मकान के मसले पीछे धकेल दिये जाते हैं। लेकिन सच तो यह है कि वास्तव में देश की जनता को ख़तरा चीन या पाकिस्तान से नहीं बल्कि देश की सरहदों के भीतर मौजूद हुक़मरानों से है। चीन की जनता और पाकिस्तान की जनता भी अपने ही हुक़मरानों और उनकी अमीरपरस्त नीतियों से त्रस्त है। इन सभी देशों के हुक़मरानों की अपनी साम्राज्यवादी और क्षेत्रीय चौधराहट (पेज 10 पर जारी)

# नये साल में मज़दूर वर्ग के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ क्या हैं? इन चुनौतियों का मुक़ाबला मज़दूर वर्ग कैसे कर सकता है?

(पेज 9 से आगे)

की महत्वाकांक्षाएँ हैं जिसके वास्ते ये अपने-अपने देशों को युद्धोन्माद में धकेलते हैं। इसका इनको बोनस फ़ायदा यह होता है कि देश के भीतर जारी जनता के सभी प्रतिरोधों को, शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध चल रहे संघर्षों को पलभर में “राष्ट्रद्रोह” घोषित कर दिया जाता है। इस बार भी जब देश में आर्थिक और राजनीतिक संकट मण्डरा रहा है, तो मोदी-शाह इसी पुरानी तरकीब को लगाने की कोशिश कर सकती है। इससे पहले मोदी-शाह के फ़ासीवादी पूर्वज अटल बिहारी वाजपेयी ने भी कारगिल युद्ध के ज़रिए यही काम किया था।

2019 के लोकसभा चुनाव से पहले भी पुलवामा हमले के ज़रिए भाजपा ने ऐसी ही लहर पैदा की थी। देशभर में मोदी सरकार भयंकर असन्तोष और अलोकप्रियता की शिकार थी। इसी समय पुलवामा हमला होता है जिसके जवाब में सर्जिकल स्ट्राइक का दावा किया जाता है और देश में अन्धराष्ट्रवाद की लहर भड़काकर फिर से मोदी-शाह सत्ता का रास्ता साफ़ करते हैं। यह दीगर बात है इस समूचे मसले की कभी कोई समुचित जाँच तक नहीं करवायी गयी!

अन्धराष्ट्रवाद की लहर के ज़रिए आम मेहनतकश जनता को आणविकीकृत यानी अलग-थलग कर दिये गये नागरिकों के तौर पर पुनरुत्पादित किया जाता है और काग़ज़ पर बने एक नक्शे और उसके झण्डे के प्रति प्रतिबद्धता की माँग कर एक वर्ग के सदस्य के तौर पर उनकी चेतना को भोथरा किया जाता है। भाजपा ने इस विचारधारा का मुक़ामल इस्तेमाल किया है, हालाँकि पूरी दुनिया के ही पूँजीवादी हुकमरानों की यह आजमूदा तरकीब रही है।

जब भी भाजपा व संघी गिरोह हमें “राष्ट्रवाद” और देशभक्ति की घुट्टी पिलाये तो यह याद कर लेना चाहिए कि ये वे लोग हैं जिन्होंने आज़ादी की लड़ाई के दौरान न सिर्फ़ उसमें भागीदारी नहीं की थी, बल्कि क्रान्तिकारियों और स्वतंत्रता-सेनानियों के विरुद्ध अंग्रेज़ों के पास जाकर मुखबिरी की थी और अंग्रेज़ों के हमेशा नौकर बने रहने के वायदे के साथ माफ़ीनामे लिखे थे। हमें यह भूलना नहीं होगा कि सेना के नाम पर वोट माँगने वाली भाजपा ने सैनिकों के लिए ताबूतों की ख़रीद तक में भी घोटाला किया था। हमें भूलना न होगा कि हाल ही में भाजपा ने ही अर्द्धसैनिक बलों हेतु भर्ती में ‘अग्निपथ योजना’ को लागू किया यानी सैन्य सेवाओं का ठेकाकरण किया है। यानी, अब पूँजीपतियों के “राष्ट्र” की सेवा और भक्ति भी ठेके पर करना देश के ग़रीब

किसानों और मज़दूरों के बेटे-बेटियों के लिए मजबूरी होगी! केन्द्र सरकार ने दिल्ली उच्च न्यायालय में यह भी स्वीकारा कि ‘अग्निवीर’ यानी ठेके पर भर्ती हुए ये सैनिक सिपाही के पद से कमतर होंगे। सैन्यबलों, अर्द्धसैन्यबलों और तमाम निम्न पदस्थ कर्मियों की बदहाल जिन्दगी बयान करती है कि सेना के भीतर वर्ग विभाजन है और निचले पायदान पर मौजूद सैनिकों की जिन्दगी बदतर है। इस सवाल पर भाजपा और संघ के प्रचार का भण्डाफोड़ करना इस नये साल में मज़दूरों का अहम कार्यभार है।

मोदी सरकार नवउदारीकरण और निजीकरण की आँधी चलाकर तथा जनसुविधाओं का ताना-बाना नष्ट कर मज़दूरों और आम मेहनतकश जनता को भुखमरी के स्तर पर जिन्दा रहने को मजबूर कर रही है। मज़दूर वर्ग के सामने यह चौथी बड़ी चुनौती है कि वह संगठित होकर संघर्ष करे, समूची मेहनतकश जनता को नेतृत्व दे और मोदी सरकार के इन नापाक मंसूबों को नाकाम करे। मोदी सरकार जनसुविधाओं का ताना-बाना ख़त्म कर जनता की सम्पत्ति को औने-पौने दामों पर बेच रही है। ज़िला अस्पतालों, स्कूलों से लेकर सभी पब्लिक सेक्टर कम्पनियों को बेचा जा रहा है और जनता को मिलने वाली हर जनसुविधा को माल में तब्दील कर पूँजीपतियों को जनता को निचोड़ने का मौक़ा दिया जा रहा है। ठेकाकरण और पक्की नौकरियों का ख़त्म होते जाना इसी का एक परिणाम है। बेरोज़गारी और कमरतोड़ महँगाई में जनता को गन्ने की तरह चूस जाने के बाद मोदी सरकार ने ग़रीब परिवारों को राशन की ख़ैरात बाँटना जारी रखा है। इस साल ही सरकार ने कुछ किलो मुफ्त राशन एक साल के लिए बढ़ा दिया, क्योंकि कई राज्यों में चुनाव नज़दीक हैं। भुखमरी की रेखा पर जिन्दा रहने के लिए 80 करोड़ आबादी को नाममात्र का राशन दिया जा रहा है।

वहीं दूसरी ओर, मोदी सरकार ‘रेवडी संस्कृति’ पर बयान देकर जनसुविधाओं के बचे-खुचे ढाँचे को निशाना बना रही है। सुप्रीम कोर्ट ने भी इस मसले में मोदी सरकार की ज़ुबान बोली है। अपर्याप्त मात्रा में राशन देकर, कुछ झुग्गीवासियों को गिनती के पक्के मकान देकर, उज्ज्वला सरीखी योजनाओं के ज़रिए मोदी सरकार खुद ख़ैरात बाँटकर जनता के बीच अपना जमकर प्रचार करती है। पहले खुद ही मोदी सरकार मेहनतकश जनता के विचारणीय हिस्से को भयंकर ग़रीबी में धकेलती है और फिर खुद ही उसे भुखमरी की रेखा पर जिन्दा रहने के लिए चन्द किलो अनाज देकर

अपनी दरियादिली का शोर मचाती है। राजनीतिक चेतना की कमी के कारण कोविड काल में भयंकर ग़रीबी का सामना कर रही आम मेहनतकश जनता का एक हिस्सा भाजपा के प्रचार में बहा भी। आम मेहनतकश जनता के बीच क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को इस सच्चाई का व्यापक प्रचार करना होगा कि हमारी माँग सम्मानजनक व पक्का रोज़गार है, न कि रोज़गार व अन्य अधिकार न दिये जाने की सूत में, कुछ किलोग्राम राशन की ख़ैरात। हम समूची जनता के लिए पूर्ण खाद्य सुरक्षा की माँग पेश करते हैं और यह माँग करते हैं कि भारत के हर नागरिक को पर्याप्त पोषणयुक्त भोजन मुहैया कराना सरकार की जिम्मेदारी है। यह जनता का अधिकार है और सरकार यह देकर उस पर कोई अहसान नहीं करेगी। इस सार्वभौमिक खाद्य सुरक्षा के अधिकार के साथ हर नागरिक को सम्मानजनक और पक्का रोज़गार मुहैया कराना भी सरकार की जिम्मेदारी है। मेहनतकश जनता को यह समझना होगा कि पहले समाज के लिए सुई से लेकर जहाज़ तक हरेक चीज़ और हरेक आवश्यक सेवा का उत्पादन करके और फिर हजारों करोड़ रुपये अप्रत्यक्ष कर के रूप में देश के पूँजीपतियों और उनकी मैनेजिंग कमेटी का काम करने वाली राज्यसत्ता के अहलकारों को देकर जनता ने पहले ही इन सभी अधिकारों की कीमत चुका दी है। इसलिए सभी को भोजन, रोज़गार, आवास, चिकित्सा और राजकीय बीमा जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है। समाज के सर्वाधिक ग़रीब हिस्से को चन्द किलो राशन देकर मोदी सरकार अपना पल्ला झाड़ने और जनता को बेवकूफ़ बनाने का काम कर रही है, इस बात को हम मेहनतकशों को समझ लेना चाहिए।

2014 के बाद से व्यवस्थित रूप में भाजपा सरकार द्वारा अपने राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ़ सरकारी एजेंसियों का दुरुपयोग और दन्तहीन कचहरी तथा संवैधानिक संस्थाओं के दम पर अधोषित आपातकाल को लागू कर दिया है, हालाँकि इसके लिए भारत के कमज़ोर बुर्जुआ बहुदलीय संसदीय जनवाद के खोल को उतारकर फेंकने की कोई आवश्यकता नहीं थी, जैसा कि बीसवीं सदी में जर्मनी में नात्सी पार्टी ने और इटली में फ़ासीवादी पार्टी ने किया था। यह इक्कीसवीं सदी के फ़ासीवाद की एक चारित्रिक अभिलाक्षणिकता है कि वह बुर्जुआ जनवाद के खोल को नष्ट नहीं करता है क्योंकि आज के मरे-गिरे बुर्जुआ जनवाद के दौर में इसकी कोई ज़रूरत नहीं है। जनवादी स्पेस का यह क्षरण मज़दूर वर्ग के समक्ष पाँचवीं बड़ी चुनौती है। मोदी सरकार ने एक

तरफ़ तो अपने चुनावी विरोधियों को पुलिस, सीबीआई और ईडी सरीखी एजेंसियों के ज़रिए फँसाया है तो दूसरी तरफ़ मज़दूर कार्यकर्ताओं और जनवादी अधिकार कार्यकर्ताओं को झूठे मामलों के तहत जेल में डालने का काम किया है। कांग्रेस से लेकर तमाम क्षेत्रीय पार्टियों के विधायकों को डराकर या ख़रीदकर भाजपा तमाम राज्यों में अपनी सरकारें बना रही है, ऐसे राज्यों में भी जहाँ वह चुनाव नहीं जीत पा रही है! सभी संवैधानिक संस्थाओं को अन्दर से खोखला कर भाजपा ने शक्तियों का फ़ासीवादी संकेन्द्रण किया है। राज्यसत्ता के निकायों के पोर-पोर में फ़ासीवादी तत्व प्रवेश कर चुके हैं। जनवादी अधिकारों पर हो रहे व्यापक हमलों के खिलाफ़ मज़दूर वर्ग को ही सड़क पर उतरना होगा क्योंकि पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने की सबसे उपयुक्त ज़मीन जनवाद होता है। इसलिए सर्वहारा वर्ग सबसे क्रान्तिकारी तरीक़े से जनवादी अधिकारों और स्पेस की भी हिफ़ाज़त करता है। हम मज़दूरों-मेहनतकशों को यह नहीं समझना चाहिए कि यदि देश के किसी भी हिस्से में किसी के जनवादी अधिकारों का फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा हनन किया जाता है, तो वह हमारा मसला नहीं है। कहीं भी जनवादी अधिकारों को कुचला जाना क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग का मसला है और उसके सरोकार का विषय है क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था के मरणासन्न होते जाने के साथ, उसके अधिक से अधिक प्रतिक्रियावादी और ग़ैर-जनवादी होते जाने की कीमत अन्ततः मज़दूर वर्ग को ही चुकानी पड़ती है।

इस नये साल में हम मज़दूरों और मेहनतकशों को यह समझ लेना होगा कि हमारा सबसे बड़ा दुश्मन फ़ासीवाद है। बीसवीं सदी के शुरुआत की तरह बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों और इक्कीसवीं सदी में इसका उभार अचानक और तेज़ी से होने की बजाय एक लम्बी सुदीर्घ प्रक्रिया में हुआ है। 1925 में पहले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना; 1947 तक टुटपुँजिया वर्ग, पूँजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग के बीच अपने आधार का विस्तार और अपने कांडर ढाँचे का निर्माण और आज़ादी के आन्दोलन से ग़द्दारी; 1947 से 1950 के दशक के अन्त तक गाँधी की हत्या के बाद हाशिये पर जाने के बाद, लोहिया व अन्य समाजवादियों की मदद से फिर से मुख्यधारा में वापस आना; 1960 के दशक से 1980 के दशक तक देशभर में अपने कांडर ढाँचे का विस्तार और राज्यसत्ता के निकायों में

घुसपैठ को बढ़ाना; 1980 के दशक में भारतीय पूँजीवाद के गहराते संकट में टुटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रिया की लहर खड़ा करते हुए मन्दिर आन्दोलन की शुरुआत; 1990 के दशक में कई राज्यों में सरकार बनाना और फिर 1998 में पहली बार देश में सरकार बनाना; 2002 में गुजरात दंगों के साथ फ़ासीवादी लहर को नये स्तर पर ले जाना और मोदी का उभार; 2011 से 2014 तक अण्णा हज़ारे और केजरीवाल के इण्डिया अगेस्ट करप्शन के ज़रिए कांग्रेस सरकार को कमज़ोर करना और फिर 2014 में नरेन्द्र मोदी का निर्णायक रूप में सत्ता में पहुँचना। ये भारत में फ़ासीवाद के अब तक के उभार के अहम चरण रहे। हम देख सकते हैं कि यह एक लम्बी चरणबद्ध प्रक्रिया में हुआ है, न कि हिटलर व मुसोलिनी के नेतृत्व में होने वाले फ़ासीवादी उभार के समान जो चन्द वर्षों में तेज़ी से सत्ता में पहुँचा और फिर उतनी ही तेज़ी से उसका पतन भी हो गया। अपने फ़ासीवादी पूर्वजों से भारत के हिन्दुत्व फ़ासीवादियों ने सबक लिया है। ये जब सत्ता में नहीं रहते हैं, तो भी ये शासक वर्ग के लिए मज़दूर आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रतिक्रियावादी टुटपुँजिया उभार खड़ा करने में संलग्न रहते हैं। ये सत्ता में पहुँचने पर पूँजीवादी जनवाद को औपचारिक तौर पर भंग नहीं करते हैं, बल्कि उसके खोल को बरकरार रखते हुए उसकी अन्तर्वस्तु को नष्ट कर देते हैं। राज्यसत्ता के समूचे ढाँचे में संघ परिवार के फ़ासीवादियों की लम्बी प्रक्रिया में हुई घुसपैठ उन्हें ऐसा करने में सक्षम बनाती है। इन बदलावों के कारण आज मज़दूर वर्ग को अपने इस सबसे ख़तरनाक दुश्मन यानी फ़ासीवाद के विरुद्ध संघर्ष की रणनीति को भी नये सिरे से सूत्रबद्ध करना होगा।

इस नये साल को हमें फ़ासीवाद से संघर्ष और मुक़ाबले का साल बनाना होगा : केवल यही विकल्प आज हमारे सामने है। फ़ासीवाद का उभार क्रान्तिकारी शक्तियों की निष्क्रियता के चलते ही हो रहा है। जैसा इटली में मज़दूर वर्ग के नेता अन्तोनिओ ग्राम्शी ने कहा था, फ़ासीवाद मज़दूर वर्ग के निष्क्रिय होने का इन्तज़ार करता है और फिर उसपर आपदा की तरह टूट पड़ता है। आज का दौर मज़दूर वर्ग के लिए फ़ासीवादी आपदा का दौर है। अगर हम आज से ही खुद को संगठित करने में नहीं लग जाते हैं, तो आने वाला साल भी ऐसा ही आपदा से भरा होने वाला है। आज फ़ासीवादी चुनौती के खिलाफ़ लड़ने के लिए सबसे पहला कार्य एक अखिल

(पेज 8 पर जारी)

## क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षणमाला – 8

## मार्क्स के आर्थिक चिन्तन के विकास के प्रमुख चरण

● अभिनव

अभी तक हमने पढ़ा कि मूल्य का श्रम सिद्धान्त एडम स्मिथ से शुरू होकर डेविड रिकार्डो से होता हुआ किस प्रकार मार्क्स के वैज्ञानिक मूल्य के श्रम सिद्धान्त तक पहुँचा। हमने देखा कि पूँजीवादी समाज के अध्ययन की शुरुआत केवल माल से ही हो सकती है क्योंकि पूँजीवादी समाज में समृद्धि मालों के एक विशाल समुच्चय के रूप में प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी समाज में अधिक से अधिक वस्तुएँ और सेवाएँ माल में तब्दील होती जाती हैं। माल वह वस्तु है जो मानव श्रम से पैदा होता है और उसका उत्पादन विनिमय हेतु होता है। यानी माल का एक उपयोग-मूल्य होता है और एक विनिमय-मूल्य होता है। उपयोग-मूल्य उसकी सामाजिक उपयोगिता पर निर्भर करता है जबकि विनिमय-मूल्य अन्य मालों से उसके विनिमय के अनुपात को दर्शाता है। लेकिन दो मालों का विनिमय केवल तभी सम्भव है जबकि उनमें कुछ तुलनीय हो, कुछ साझा हो। जाहिर है कि दो मालों के विशिष्ट उपयोग-मूल्यों यानी उनकी विशिष्ट सामाजिक उपयोगिता में कुछ भी साझा नहीं होता और कोई भी माल उत्पादक अपने माल का विनिमय उसी माल से नहीं करेगा जो वह स्वयं पैदा करता है, बल्कि किसी अलग माल से ही करेगा। ऐसे में, उनमें तुलनीय क्या है? हमने देखा कि किन्हीं भी दो अलग मालों में जो चीज तुलनीय है वह है मानवीय श्रम। लेकिन अलग-अलग प्रकार के विशिष्ट या मूर्त मानवीय श्रम में भी कुछ साझा नहीं होता है। मसलन, एक बढ़ई और एक लुहार के विशिष्ट प्रकार के मूर्त श्रम में क्या साझा है? कुछ भी नहीं। मार्क्स ने बताया कि यह विशिष्ट प्रकार का मूर्त श्रम अलग-अलग मालों में विशिष्ट उपयोग-मूल्य को जन्म देता है। तो फिर दोनों मालों में साझा क्या है? दोनों मालों में जो साझा है कि वे आम तौर पर साधारण अमूर्त मानवीय श्रम के उत्पाद हैं। दूसरे शब्दों में, इन दोनों ही मालों को बनाने में आम तौर पर साधारण अमूर्त मानवीय श्रम लगा है, यानी, मार्क्स के शब्दों में, उनको बनाने में “मनुष्य के दिमाग, उसकी नसों और मांसपेशियों” का खर्च हुआ है। उन्होंने इस प्रक्रिया में कौन-सा विशिष्ट मूर्त रूप ग्रहण किया, मालों के मूल्य के निर्धारण में हम इसे नज़रन्दाज़ करते हैं, उससे अमूर्तन करते हैं। इसलिए मालों का मूल्य उनमें लगे अमूर्त मानवीय श्रम से पैदा होता है।

हमने यह भी देखा कि मूल्य के निर्धारण के मामले में कुशल व अकुशल श्रम का प्रश्न कोई समस्या नहीं पैदा करता है क्योंकि हर जटिल या कुशल श्रम के एक घण्टे को साधारण या अकुशल श्रम के घण्टों की एक निश्चित संख्या में तब्दील किया जा सकता है। यदि हम उक्त कौशल के उत्पादन में खर्च हुए श्रम के आधार पर एक गुणक से उसका गुणा कर दें तो हर कुशल श्रम को अकुशल साधारण श्रम में अपचयित किया जा

सकता है। दूसरे शब्दों में, कोई भी कुशल मज़दूर केवल अपनी श्रमशक्ति के साथ उत्पादन व श्रम प्रक्रिया में भागीदारी नहीं करता है, बल्कि उन सभी श्रमशक्तियों के साथ भागीदारी करता है, जो कि उसके कौशल के उत्पादन में खर्च हुई हैं। इस बात को आंशिक तौर पर एडम स्मिथ ही समझ चुके थे, हालाँकि कुशल श्रम के अकुशल साधारण श्रम में अपचयन की समूची समस्या को पूर्ण रूप में मार्क्स ने हल किया। इस प्रकार हमने देखा कि माल का मूल्य वह अन्तर्भूत (intrinsic) चीज है जो कि मालों के विनिमय-मूल्य, यानी उनके सापेक्षिक मूल्य या विनिमय के अनुपात को तय करता है। यह सम्भव है कि दो मालों का मूल्य एकदम समानुपातिक रूप में और समान दिशा में बदले और उनके विनिमय-मूल्य में कोई फ़र्क न आये, या किसी एक माल का मूल्य बदले जबकि दूसरे माल का मूल्य समान रहे और नतीजतन उनका विनिमय-मूल्य बदल जाये। यह मूल्य-रूप की विशेषता है।

हमने यह भी देखा कि मालों का मूल्य उसमें लगे अमूर्त साधारण सामाजिक श्रम की मात्रा है और इस प्रकार मूल्य और कुछ नहीं बल्कि वस्तुरूप ग्रहण कर चुका (objectified), या “जम गया” (congealed) अमूर्त श्रम ही है। मूल्य के विषय में गुणात्मक सवाल को हल करने, यानी उसके सारतत्व को स्पष्ट करने के बाद, मार्क्स उसके परिमाणात्मक प्रश्न पर आते हैं और बताते हैं कि मूल्य का परिमाण सामाजिक रूप से आवश्यक अमूर्त मानवीय श्रम से तय होता है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी उत्पादन की शाखा में सामाजिक उत्पादन की औसत स्थितियों में उत्पादन से माल का मूल्य तय होता है, न कि सबसे कुशल उत्पादक द्वारा लिये गये श्रमकाल से या सबसे अकुशल उत्पादक द्वारा लिये गये श्रमकाल से। मसलन, अगर एक विशेष गुणवत्ता का जूता बनाने के लिए उक्त उद्योग में उत्पादन की औसत सामाजिक स्थितियों में 4 घण्टे खर्च होते हैं, तो माल का सामाजिक या बाज़ार मूल्य इससे तय होगा, भले ही उक्त शाखा में ही कुछ उत्पादक इसे 6 घण्टे में बनाते हों और कुछ अन्य उत्पादक इसे 2 घण्टे में ही बना देते हों। इस रूप में उपयोग-मूल्य एक शुद्धतः गुणात्मक और वैयक्तिक अवधारणा है और दो उपयोग-मूल्यों में अपने आप में कुछ भी साझा नहीं है, जबकि मूल्य एक शुद्ध रूप से परिमाणात्मक व सामाजिक अवधारणा है और दो मालों के मूल्य को केवल और केवल अमूर्त श्रम की अलग-अलग मात्राओं के रूप में अलग करके देखा जा सकता है, जिनमें गुणात्मक रूप से कुछ भी भिन्न नहीं है।

इस संक्षिप्त दुहराव के बाद हम अब आगे बढ़ सकते हैं।

हम आगे उपयोग-मूल्य, विनिमय-मूल्य (जो कि मूल्य का रूप है) और मूल्य की सारवस्तु (यानी श्रम) के बारे में और

विस्तार में बात करेंगे और फिर देखेंगे किस प्रकार समाज में श्रम विभाजन के विकास के साथ वस्तुओं का विनिमय शुरू हुआ और माल उत्पादन की शुरुआत हुई, किसी प्रकार बढ़ते विनिमय ने सामाजिक श्रम विभाजन को और भी ज्यादा बढ़ाया, किसी प्रकार माल के मूल्य का रूप, यानी विनिमय-मूल्य, कई चरणों से विकसित होते हुए मुद्रा-रूप तक पहुँचा, जिससे हर कोई ही वाक्रिफ़ है; हम यह भी देखेंगे कि मुद्रा के पैदा होने के साथ किस प्रकार माल-अन्धभक्ति (commodity-fetishism) अपने चरम पर पहुँची और किस प्रकार इसने समाज में मनुष्यों के आपसी रिश्तों को रुपये-पैसे के चमकदार रहस्यमयी आवरण में ढँक दिया; हम देखेंगे कि साधारण माल उत्पादन का सामान्य सूत्र क्या होता है, किस प्रकार मुद्रा पूँजी में तब्दील होती है, किस प्रकार पूँजी बेशी-मूल्य पैदा करती है और फिर स्वयं बेशी-मूल्य पूँजी में तब्दील होता है, पूँजी का संचय होता है और समाज में एक छोर पर समृद्धि पूँजीपति वर्ग के हाथों में केन्द्रित होती जाती है और दूसरे छोर पर दरिद्रता, दुख, और तकलीफ़ का एक समन्दर इकट्ठा होता जाता है, जिसमें समाज के आम मेहनतकश लोग और विशेष तौर पर मज़दूर वर्ग डूबता जाता है; और किस प्रकार पूँजीपति वर्ग की अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने की हवस ही आवर्ती चक्रीय क्रम में आने वाले पूँजीवादी संकट का कारण बनती है जो एक नयी और बेहतर सामाजिक व्यवस्था के उदय की पूर्वशर्तों को जन्म देती है।

लेकिन इस लम्बी मगर बेहद रोचक यात्रा पर निकलने से पहले यह जानना उपयोगी होगा कि जिन व्यक्तियों ने यानी मार्क्स और एंगेल्स ने पूँजीवादी समाज के काम करने के तौर-तरीकों की पड़ताल कर उसके गति के नियमों को ढूँढ़ा और बताया, उनके आर्थिक चिन्तन की विकास-यात्रा क्या थी। यह जाने बग़ैर हम यह नहीं समझ पायेंगे कि मार्क्स और एंगेल्स क्यों पूँजीवादी शोषण के घृणित क्षुद्र रहस्य को समझ पाये? निश्चित तौर पर, इसमें इतिहास के उस दौर की भी भूमिका थी जिसमें मार्क्स और एंगेल्स पैदा हुए थे। लेकिन साथ ही इस तथ्य की भी इसमें केन्द्रीय भूमिका थी कि मार्क्स और एंगेल्स सर्वप्रथम सर्वहारा क्रान्तिकारी थे, जिन्होंने अपना समूचा जीवन सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के महान लक्ष्य के लिए समर्पित किया था। और अन्ततः इसमें मार्क्स और एंगेल्स की महान और युगान्तरकारी प्रतिभा की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका थी। इन बातों को समझकर हम मार्क्स व एंगेल्स के आर्थिक चिन्तन के विकास के चरणों को भी बेहतर तरीके से समझ सकते हैं और साथ ही मार्क्स व एंगेल्स के क्रान्तिकारी आर्थिक खोजों को समझकर अपनी मुक्ति के पथ को आलोकित कर सकते हैं।

## मार्क्स के आर्थिक चिन्तन के विकास के प्रमुख चरण

मार्क्स और एंगेल्स एक ऐसे युग में पैदा हुए थे जब व्यापारिक पूँजीवाद का दौर यूरोप के प्रमुख पूँजीवादी देशों में मूलतः और मुख्यतः खत्म हो गया था और औद्योगिक पूँजी का वर्चस्व स्थापित हो गया था। मार्क्स का जन्म 5 मई 1818 को त्रियेर, राइन प्रान्त, प्रशिया (वर्तमान जर्मनी) में हुआ था जबकि एंगेल्स का जन्म 28 नवम्बर 1820 को बारमन, प्रशिया (वर्तमान जर्मनी) में हुआ था। दुनिया में उन्नत पूँजीवादी देशों में पूँजीवादी व्यवस्था की सौगातें साफ़ तौर पर नज़र आ रही थीं। एक ओर पूँजीपति वर्ग के हाथों में समृद्धि और पूँजी का बढ़ता संचय और दूसरी ओर मज़दूर वर्ग का गिरता जीवन-स्तर, दरिद्रता, बीमारी और गरीबी। उस दौर में मज़दूरों से कारखानों में 10 से 12 घण्टे तक काम लिया जाता था और कुछ देशों में इससे भी ज्यादा। मज़दूर वर्ग के जीवन की भयंकर स्थिति पर ही एंगेल्स ने अपनी प्रसिद्ध रचना ‘इंग्लैण्ड में मज़दूर वर्ग की दशा’ 1845 में लिखी थी, जब वह मात्र 25 वर्ष के थे। मज़दूर वर्ग के जीवन की यह स्थिति ही थी जो उस दौर में तमाम उपन्यासकारों को इस जीवन के चित्रण के लिए मजबूर कर रही थी तो वहीं इंग्लैण्ड व फ़्रांस जैसे उन्नत पूँजीवादी देशों के पूँजीपति वर्ग के दूरदर्शी पहरेदार, बुद्धिजीवी, मानवतावादी फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर व डॉक्टर आदि भी पूँजीवादी राज्य से माँग कर रहे थे कि मज़दूरों को कार्यस्थिति, कार्यदिवस और जीवनस्थिति सम्बन्धी कुछ कानूनी अधिकार व सुरक्षाएँ प्रदान की जायें। 1840 के दशक के उत्तरार्द्ध में ही यूरोप का मज़दूर वर्ग भी अपने जुझारू और क्रान्तिकारी राजनीतिक आन्दोलनों की शुरुआत कर रहा था, जब अभी कई देशों में बुर्जुआ वर्ग स्वयं राज्यसत्ता से राजतंत्र और सामन्ती कुलीन वर्ग को बेदखल करने या राजनीतिक शक्ति का बड़ा साझीदार बनने के प्रयास कर रहा था। सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना और उसके वर्ग संघर्ष का विकास हो रहा था।

यही वह समूचा सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ था जिसमें मार्क्स व एंगेल्स ने दुनिया बदलने की चाहत रखने वाले संजीदा और ज़हीन नौजवानों के रूप में अपने चिन्तन और अपनी राजनीतिक गतिविधियों की शुरुआत की। दोनों ने ही दर्शन के क्षेत्र में चिन्तन और लेखन से शुरुआत की और हेगेल के भाववादी दर्शन से होते हुए, युवा हेगेलपन्थियों के मनोगत भाववाद और फिर लुडविग फ़ायरबाख़ नामक जर्मन यांत्रिक भौतिकवादी दार्शनिक के चिन्तन की आलोचना पेश की और अन्ततः अपने दर्शन और विज्ञान, यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद, को विकसित किया। दर्शन और राजनीति पर चिन्तन और लेखन

के साथ ही उनके क्रान्तिकारी बौद्धिक जीवन का आरम्भ हुआ।

राजनीतिक अर्थशास्त्र पर चिन्तन और लेखन की शुरुआत करने वाले पहले व्यक्ति मार्क्स नहीं बल्कि एंगेल्स थे। 1844 में उन्होंने ‘राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना की एक रूपरेखा’ नामक निबन्ध लिखा जिसे मार्क्स ने भी पढ़ा था और उससे काफ़ी प्रभावित हुए थे। अपने आपको कम्युनिस्ट क़रार देने वाले पहले व्यक्ति भी एंगेल्स ही थे। वैसे तो एंगेल्स की मार्क्स से एक संक्षिप्त मुलाक़ात 1842 में ही ‘राइनिश ज़ाइटुंग’ नामक अख़बार के दफ़्तर में हुई थी, जिसका मार्क्स उस समय सम्पादन कर रहे थे, लेकिन तसल्ली के साथ उनकी पहली मुलाक़ात 1844 में 28 अगस्त के दिन हुई, जिसके साथ दो महान सर्वहारा क्रान्तिकारियों और सर्वहारा वर्ग के शिक्षकों के बीच एक ऐसी मित्रता की शुरुआत हुई जो आज भी एक मिसाल है। एंगेल्स 10 दिन मार्क्स के साथ पेरिस में रुके और इसी बीच दोनों ने अपनी पहली साथ लिखी गयी पुस्तक ‘पवित्र परिवार’ पर काम शुरू किया, जिसने जर्मनी में उस समय काफ़ी फ़ैशनेबल हो चुके युवा हेगेलपन्थी दर्शन और राजनीति की धज्जियाँ उड़ायीं और वैज्ञानिक भौतिकवादी और क्रान्तिकारी समाजवाद के सिद्धान्तों की नींव रखी। इसके बाद दोनों ने साथ में 1846 में ‘जर्मन विचारधारा’ नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को पहली बार व्यवस्थित तौर पर सूत्रबद्ध किया। यह पुस्तक उनके जीवनकाल में नहीं छप सकी। उनकी मृत्यु के बाद पहली बार इसका प्रकाशन समाजवादी सोवियत संघ में 1932 में हुआ। इसकी वजह यह थी कि प्रकाशक ने इसे छापने से इन्कार कर दिया था। नतीजतन, मार्क्स के शब्दों में, उन्होंने (मार्क्स व एंगेल्स ने) इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को “चूहों द्वारा कुतरकर की जाने वाली आलोचना के हवाले कर दिया।” लेकिन अन्ततः जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई तो इसने पूरी दुनिया के बौद्धिक जगत में धमाका कर दिया और आज तक हर वर्ष ही तमाम विश्वविद्यालयों में इस पुस्तक के ऊपर केन्द्रित कुछ शोध-कार्य प्रकाशित होते हैं। इस पुस्तक के साथ मार्क्सवादी दर्शन और विज्ञान यानी सर्वहारा वर्ग की वैज्ञानिक विश्वदृष्टि (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) और समाज के विज्ञान (ऐतिहासिक भौतिकवाद) की स्थापना का काम एक नये मुक़ाम पर पहुँचा।

राजनीतिक अर्थशास्त्र पर अपने अध्ययन को गहरा करने का सुझाव एंगेल्स ने मार्क्स को दिया और लगातार उन पर दबाव बनाया कि दर्शन के साथ-साथ वे क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र यानी एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो, फ़िज़ियोक्रेट धारा के अर्थशास्त्र, माल्थस आदि का गहराई से अध्ययन करें। जहाँ (पेज 12 पर जारी)

# मार्क्स के आर्थिक चिन्तन के विकास के प्रमुख चरण

## (पेज 11 से आगे)

1844 में एंगेल्स का निबन्ध 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना की एक रूपरेखा' प्रकाशित हुआ, वहीं इसी वर्ष मार्क्स की प्रसिद्ध रचना '1844 की आर्थिक व दार्शनिक पाण्डुलिपियाँ' भी लिखी गयी (हालाँकि यह मार्क्स की मृत्यु के 50 वर्ष बाद ही पहली बार प्रकाशित हो सकी) जिसमें मार्क्स ने पहली बार बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र पर कुछ आरम्भिक आलोचनात्मक टिप्पणियाँ कीं और मज़दूर वर्ग के अलगाव का अपना सिद्धान्त पेश किया। 1845 में 'पवित्र परिवार' का प्रकाशन हुआ और 1846 में 'जर्मन विचारधारा' का लेखन हुआ। यहाँ से मार्क्स और एंगेल्स का लेखन दो अलग विकास-पथ अपनाता है। मार्क्स 1848 से ही अपने अध्ययन को राजनीतिक अर्थशास्त्र पर केन्द्रित करते हैं, हालाँकि 1848 से 1852 का समय ऐतिहासिक भौतिकवाद पर मार्क्स की कुछ श्रेष्ठतम कृतियों के लेखन का दौर भी था। एंगेल्स द्वन्द्वत्मक व ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा प्राकृतिक विज्ञान पर अध्ययन व लेखन के साथ मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की हिफाजत करने और उन्हें मज़दूर वर्ग में लोकप्रिय बनाने के कार्यभार को अपने हाथ में लेते हैं। मार्क्स का आर्थिक चिन्तन कई चरणों से होकर विकसित होता है, जिन पर एक संक्षिप्त चर्चा करना उपयोगी होगा और आगे तमाम मसलों को समझने में हमारी सहायता करेगा।

## पहला चरण (1844 से 1846)

एंगेल्स के प्रोत्साहन और दबाव के चलते मार्क्स ने गम्भीरता से पूँजीवाद और उसकी श्रम प्रक्रिया व उत्पादन प्रक्रिया का अध्ययन करना शुरू किया। इस अध्ययन का पहला परिणाम '1844 की आर्थिक व दार्शनिक पाण्डुलिपियाँ' के रूप में सामने आया जिसमें पहली बार मार्क्स अलगाव की परिघटना की पहचान करते हैं और बताते हैं कि पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया में मज़दूर के श्रम का उत्पाद उससे अलग कर दिया जाता है; न सिर्फ़ उसके श्रम का उत्पाद उससे अलग कर दिया जाता है, बल्कि उसके श्रम करने की गतिविधि ही उससे परायी हो जाती है, क्योंकि उस पर पूँजीपति का नियंत्रण होता है; श्रम करते समय वह खुद को अपने आप से बेगाना महसूस करता है, जबकि जब वह श्रम नहीं कर रहा होता है तब अपनी पाशविक गतिविधियों (खाना, पीना, प्रजनन, आदि) में ही वह अपने आपको मनुष्य के तौर पर महसूस कर पाता है। यह उसका विमानवीकरण करता है और उसे मानवीय सारतत्व से वंचित करता है। चूँकि उसका श्रम और उसके श्रम का उत्पाद उससे मालिक द्वारा अलग कर दिया जाता है, हड़प लिया जाता है, इसलिए वह श्रम से वैसे ही दूर भागता है जैसे कि कोई प्लेग से दूर भागता है। नतीजतन, जो गतिविधि इन्सान के लिए सबसे नैसर्गिक है और जो उसके लिए आनन्द का विषय होनी चाहिए, यानी उत्पादक गतिविधि, वही पूँजीवाद में उसके लिए एक अभिशाप

बन जाती है। मज़दूर वर्ग के अलगाव की यह अवधारणा मार्क्स की राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना के विकसित होने के साथ और भी गहरी हुई और अन्त तक इस अवधारणा को उनके आर्थिक लेखन में देखा जा सकता है।

लेकिन अभी मार्क्स ने पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की ही श्रेणियों को अपनाया था और उनका क्रान्तिकारी लक्ष्य हेतु उपयोग कर रहे थे। अभी मार्क्स ने इन श्रेणियों की सम्पूर्ण आलोचना नहीं पेश की थी। इसी दौर में, मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के ठोस आँकड़ों का गहराई से अध्ययन शुरू किया। मार्क्स और एंगेल्स शुरू से ही ठोस आनुभविक अध्ययनों, तथ्यों और आँकड़ों की मज़बूत जमीन पर खड़े होकर अपने सिद्धान्त पेश करते थे। उनके आर्थिक सिद्धान्त भी अध्ययन-कक्षों में नहीं निर्मित हुए और कल्पनाओं की उड़ान से नहीं पैदा हुए, बल्कि वास्तविक वर्ग संघर्ष में हिस्सेदारी के अनुभवों और वास्तविक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के ठोस आँकड़ों और तथ्यों के अध्ययन, उनके सामान्यीकरण और समाहार पर आधारित थे। ठीक इसीलिए वे पूँजीवादी यथार्थ को सटीक और वैज्ञानिक तरीके से समझते थे, उसकी गति के विज्ञान को समझते थे और इसलिए इस बात की अनिवार्यता को समझते थे कि पूँजीवादी समाज में मौजूद वर्ग संघर्ष को अपनी आन्तरिक गति से सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और कम्युनिज्म की ओर जाना है या फिर बर्बरता और विनाश की ओर। इसलिए मार्क्स इस दौर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के व्यापार चक्र, उसके संकटों की आवर्तिता आदि के आँकड़ों का सावधानीपूर्वक अध्ययन कर रहे थे और उनके कारणों की पड़ताल कर रहे थे।

## दूसरा चरण (1846 से 1848)

मार्क्स का आर्थिक चिन्तन इस बीच अद्भुत गति से आगे बढ़ा। इस दौर में उनके आर्थिक चिन्तन में हुआ विकास स्पष्ट तौर पर उनकी किताब 'दर्शन की दरिद्रता' में नज़र आता है, जो कि प्रूथों नामक टुटपुँजिया समाजवादी चिन्तक के विचारों की तीखी आलोचना थी। गौरतलब है, प्रूथों का उस समय के यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन में काफ़ी प्रभाव था। प्रूथों वर्ग संघर्ष के ज़रिए मज़दूर वर्ग की मुक्ति के बजाय मज़दूरों के छोटे-छोटे उत्पादक समूहों और उनके बीच व्यापार की व्यवस्था, टुटपुँजिया उत्पादकों के बीच समान विनिमय पर आधारित व्यवस्था की बात कर रहे थे और इस ग़लत अवधारणा के कारण वह हड़तालों तक का विरोध कर रहे थे कि हड़तालों का नतीजा बड़ी मज़दूरी में होगा और बड़ी मज़दूरी का अर्थ होगा बड़ी हुई क्रीमते! मार्क्स ने बताया कि बड़ी हुई मज़दूरी का अर्थ घटा हुआ मुनाफ़ा होता है न कि बड़ी हुई क्रीमते। मार्क्स ने प्रूथों के समूचे भाववादी दर्शन और राजनीतिक अर्थशास्त्र की ज़बर्दस्त आलोचना पेश की, जिसने मज़दूर आन्दोलन में इस टुटपुँजिया प्रवृत्ति को हाशिये पर पहुँचाने का अहम काम किया। 1847 में ही मार्क्स ब्रसेल्स में मज़दूरों के समूहों के बीच कुछ

व्याख्यान देते हैं, जो बाद में 'उजरती श्रम और पूँजी' के नाम से प्रकाशित होते हैं। अभी मार्क्स ने अपनी कई विकसित अवधारणाओं को विकसित नहीं किया था जैसे कि श्रमशक्ति की अवधारणा, परिवर्तनशील पूँजी और स्थिर पूँजी के बीच के अन्तर की अवधारणा, या संकट का अपना सिद्धान्त। लेकिन वह क्रम-दर-क्रम राजनीतिक अर्थशास्त्र की अपनी आलोचना को विकसित कर रहे थे और उसकी अवैज्ञानिक श्रेणियों की जगह वैज्ञानिक श्रेणियों को स्थापित कर रहे थे। उनके इन भाषणों के संकलन को बाद में एंगेल्स ने मार्क्स की परिपक्व अवधारणाओं के अनुसार सम्पादित किया और प्रकाशित किया। यह संकलन आज भी हम मज़दूरों के लिए पढ़ने योग्य है।

1848 में ही 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' के ऐतिहासिक दस्तावेज़ का प्रकाशन हुआ जिसमें मार्क्स ने पूँजीवाद के उद्भव, उसके विकास और पूँजी संचय के आम नियमों की पहली बार व्यवस्थित तौर पर चर्चा की। इसमें मार्क्स पूँजीवाद के विकास में एक विश्व बाज़ार के उदय की भूमिका को चिह्नित करते हैं। मार्क्स बताते हैं कि पूँजीवादी समाज के विकास का एक आम नियम है कि अमीर और ग़रीब के बीच की खाई बढ़ती जाती है, समाज के एक छोर पर समृद्धि तो दूसरे छोर पर दरिद्रता का संचय होता जाता है। इस समय तक मार्क्स क्लासिकीय बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र की कई ग़लत अवधारणाओं को भी ज्यों का त्यों इस्तेमाल कर रहे थे, जैसे कि 'मज़दूरी का लौह नियम' (iron law of wages) जिसके अनुसार मज़दूरी हमेशा मज़दूर के लिए जीने के लिए आवश्यक न्यूनतम उत्पादों को ख़रीदने योग्य स्तर पर ही रहती है। बाद में मार्क्स के अपने अध्ययन ने दिखलाया कि पूँजी संचय द्वारा उपस्थित सीमाओं के भीतर मज़दूरी दो कारकों के चलते श्रमशक्ति के न्यूनतम मूल्य से ऊपर या नीचे जा सकती है। ये दो कारक हैं श्रमशक्ति की माँग और आपूर्ति का समीकरण जो कि स्वयं मुनाफ़े की औसत दर की स्थितियों से तय होता है, और, दूसरा, जो कि पहले से भी महत्वपूर्ण है, मज़दूर वर्ग का वर्ग संघर्ष। वर्ग संघर्ष के बूते मज़दूर वर्ग नये उत्पादित मूल्य में अपनी मज़दूरी को उस सीमा तक बढ़ा सकता है, जिस सीमा तक पूँजी संचय और पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा ही न बाधित हो जाये। पूँजीवादी व्यवस्था की सीमाओं में इतना ही सम्भव है क्योंकि अगर मज़दूर वर्ग के वर्ग संघर्ष और संगठन के कारण मज़दूरी इतनी बढ़ जाये कि पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा ही संकट में पड़ जाये, तो निजी सम्पत्ति के अधिकार की व्यवस्था में पूँजीपति स्वयं 'निवेश हड़ताल' पर जा सकते हैं। लेकिन मार्क्स ने यह खोजें अपनी परिपक्व रचनाओं में कीं।

साथ ही, संकट के कारणों के रूप में भी अभी मार्क्स वाणिज्यिक संकट की अवधारणा पर ज़ोर दे रहे थे। बाद में, मार्क्स ने बताया कि संकट का मूल कारण मुनाफ़े की औसत दर में गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति होता है। इन तमाम

श्रेणियों को अभी मार्क्स एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और माल्थस से ले रहे थे। अपने वैज्ञानिक अन्वेषण के आधार पर मार्क्स इन श्रेणियों व अवधारणाओं को ख़ारिज करते हैं और मुनाफ़े के मूल यानी बेशी मूल्य के सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। लेकिन 1846 से 1848 तक के लेखन में ही इसके संकेत मिलने लगे थे।

## तीसरा चरण (1848 से 1850)

मार्क्स और एंगेल्स सर्वप्रथम सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी थे, महज़ कोई वैज्ञानिक या बुद्धिजीवी नहीं। 1848 से 1850 का दौर यूरोप में क्रान्तियों और विद्रोहों से पैदा सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल का दौर भी था। 1847 में ही एक भारी आर्थिक संकट ने यूरोप के पूँजीवादी देशों को अपने आगोश में ले लिया था। नतीजतन, तमाम देशों में बेरोज़गारी, भूख, और अनिश्चितता बढ़ रही थी। बुर्जुआ वर्ग गणतंत्र व जनवाद के लिए लड़ रहा था, लेकिन सर्वहारा वर्ग अपनी शैशवावस्था में ही अपनी मुक्ति के लिए राजनीतिक संघर्ष की भी शुरुआत कर चुका था और उससे भयाक्रान्त होकर बुर्जुआ वर्ग स्वयं समझौतापरस्ती की ओर जा रहा था।

मार्क्स व एंगेल्स ने इस दौर के क्रान्तिकारी जनवादी व सर्वहारा संघर्षों में बढ़-चढ़कर भागीदारी की। लेकिन सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन शैशवावस्था में किये गये इन प्रथम प्रयासों में सफल नहीं हो सके। अपने विश्लेषण में मार्क्स ने दिखलाया कि इसकी वजह सर्वहारा वर्ग के हिरावल में अनुभव की कमी थी, समूचे यूरोप के सर्वहाराओं में आपसी सम्पर्क और एकजुटता की कमी थी और साथ ही टुटपुँजिया वर्गों का ढुलमुल रवैया भी इस असफलता का एक कारण था। मार्क्स ने यह भी दिखलाया कि 1848 में क्रान्तियों के ज्वार के उठ खड़ा होने के पीछे वास्तविक कारण 1847 में आया गम्भीर आर्थिक संकट था। सर्वहारा वर्ग के उभार के इन पहले अनुभवों के बाद मार्क्स ने अपने आपको आर्थिक अध्ययनों में और भी गहराई से डुबा दिया। मार्क्स यह भली-भाँति समझ रहे थे कि सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलनों की भावी सफलता के लिए सही रणनीति और आम रणकौशल तभी सूत्रबद्ध किये जा सकते हैं जबकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की समूची कार्यप्रणाली को गहराई से समझा जाये। अपने आर्थिक अध्ययनों के आधार पर ही मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि अगला गम्भीर संकट करीब 10 वर्षों के बाद आने की सम्भावना है। मार्क्स की यह भविष्यवाणी आंशिक तौर पर सही साबित हुई क्योंकि संकट आया, लेकिन यह उतना व्यापक और गम्भीर नहीं था जिसकी अपेक्षा मार्क्स व एंगेल्स ने की थी।

## चौथा चरण (1857 से 1867)

1850 से 1857 के बीच मार्क्स ने जो अध्ययन किया उसके नतीजों को उन्होंने आनन-फ़ानन में एक पाण्डुलिपि के रूप में तैयार किया क्योंकि उन्हें इस बात की आशंका थी कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था

के काम करने के तौर-तरीकों के बारे में उन्होंने जो खोजें की हैं, उन्हें प्रकाशित करने से पहले ही क्रान्ति के ज्वार के दौरान या फिर अस्वस्थता से उनकी मौत हो सकती है। 1857 में आया संकट इतना गम्भीर साबित नहीं हुआ और न ही उसने 1848 के समान क्रान्तियों के किसी नये चक्र को जन्म दिया। मार्क्स ने इसके बाद इस पाण्डुलिपि के अलग-अलग हिस्सों को पुस्तकों की श्रृंखला के रूप में प्रकाशित करने की योजना बनायी। 1857 की इस पाण्डुलिपि को आज 'ग्युण्डरिस्स' के नाम से जाना जाता है, जिसका अर्थ है 'बिखरे हुए नोट्स' या 'रफ़ नोट्स'। इस रचना में मार्क्स ने अपनी बुनियादी खोजों को अव्यवस्थित तरीके से पेश कर दिया था। इन्हें पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स ने ये नोट्स अपने विचारों को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से लिए थे। बाद में जो खोजें 'पूँजी' के तीन खण्डों के अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित रूप में प्रकाशित हुईं, उनमें से अधिकांश को अपने मूलरूप में 'ग्युण्डरिस्स' में देखा जा सकता है। इस पाण्डुलिपि के तीन हिस्से हैं : परिचय, मुद्रा के बारे में अध्याय और पूँजी के बारे में अध्याय। इसमें उन्होंने तमाम समकालीन राजनीतिक अर्थशास्त्रियों जैसे कि बास्तियात और कैरी आदि की आलोचना भी पेश की और रिकार्डो व स्मिथ जैसे क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की भी आलोचना पेश की। इसी रचना में हम देख सकते हैं कि मार्क्स ने अपने मूल्य के सिद्धान्त, बेशी मूल्य के सिद्धान्त, बेशी मूल्य के मुनाफ़े, लगान और ब्याज में बँटवारे के सिद्धान्त, दाम के मूल आधार के रूप में मूल्य की पहचान और मूल्य के दाम में परिवर्तित होने तथा मुनाफ़े के मूल के रूप में बेशी मूल्य के सिद्धान्त तक पहुँच चुके थे। इसी रचना में पहली बार मार्क्स व्यवस्थित तौर पर परिवर्तनशील पूँजी और स्थिर पूँजी के बीच अन्तर करते हैं, बेशी मूल्य को बढ़ाने के दो तरीकों यानी निरपेक्ष बेशी मूल्य और सापेक्ष बेशी मूल्य की बात करते हैं। यह पाण्डुलिपि पहली बार 1939 में समाजवादी सोवियत संघ में जर्मन में प्रकाशित हुई और अंग्रेज़ी में यह पहली बार 1973 में प्रकाशित हुई और हिन्दी में अभी तक यह अप्रकाशित है। यह हमारे देश के युवा सर्वहारा क्रान्तिकारियों का कर्तव्य है कि मार्क्स की इस महान रचना का हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन करें, जिसमें पहली बार मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को तार-तार खोलकर सामने रख दिया था। यह रचना मार्क्स के राजनीतिक अर्थशास्त्र की पद्धति को समझने के लिए अपरिहार्य है।

1857 के बाद मार्क्स ने 'ग्युण्डरिस्स' के 'मुद्रा के बारे में' वाले हिस्से को सम्पादित करके उसे पुस्तक रूप दिया। यही 1859 में 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना में एक योगदान' नाम से प्रकाशित हुई, जो अब मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक क्लासिकीय रचना है। यह रचना काफ़ी जटिल थी और उस समय लोकप्रिय (पेज 13 पर जारी)

# मार्क्स के आर्थिक चिन्तन के विकास के प्रमुख चरण

(पेज 12 से आगे)

नहीं हुई। इसके प्रकाशन के बाद मार्क्स ने 'गुण्डरिस्स' के 'पूँजी के बारे में' वाले हिस्से को भी पुस्तक रूप में सम्पादित किया लेकिन प्रकाशक ने पहली पुस्तक की कम लोकप्रियता को देखते हुए इसे छापने से इन्कार कर दिया। यह पाण्डुलिपि कहाँ है, अभी तक इसकी कोई जानकारी नहीं है।

इसके तत्काल बाद ही मार्क्स ने 'पूँजी' लिखने की परियोजना पर काम शुरू कर दिया। पूँजी की समूची परियोजना के भी समय के साथ बदलते जाने का अपना एक इतिहास है। एक वैज्ञानिक के समान मार्क्स के तमाम प्रश्नों के बारे में विचार समय के साथ बदले और विकसित हुए। 'पूँजी' उनकी महानतम रचना है, जिसमें 1857 के बाद से लेकर उनकी मृत्यु तक का उनका पूरा जीवन खर्च हुआ और इस रचना के तीन खण्डों में उनके परिपक्वतम विचार सामने आते हैं। 'पूँजी' की मूल परियोजना कहीं बड़ी थी। इस परियोजना के बारे में पहली बार वह 'गुण्डरिस्स' में ही लिखते हैं। इस पूरी परियोजना को 1867 में उन्होंने बदला।

इन बदलावों में से कुछ इस वजह से थे कि 'पूँजी' के पहले खण्ड के सम्पादन के साथ मार्क्स को कुछ पूर्वनिर्धारित खण्ड अब गैर-जरूरी लगने लगे थे क्योंकि उनकी विषयवस्तु को पहले खण्ड में ही समेटा जा चुका था। लेकिन कुछ बदलाव मार्क्स ने इस वजह से भी किये थे क्योंकि उनको यह अहसास हो गया था कि अपने जीवनकाल में वह उसे पूरा नहीं कर पायेंगे। इसके अलावा, एक अन्य कारण यह था कि मार्क्स का काफ़ी समय अन्य कार्यभारों ने भी लिया। मसलन, अपने समय में सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन में हावी विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष, तरह-तरह के विजातीय और प्रति-क्रान्तिकारी तत्वों द्वारा किया जाने वाला व्यक्तिगत कुत्सा-प्रचार, जिसका मार्क्स ने केवल तभी जवाब दिया जब वह राजनीतिक रूप से आवश्यक था। इसके अलावा, वे भू-लगान का अध्ययन करने की प्रक्रिया में इस नतीजे पर पहुँचे कि यूरोप और अमेरिका में भूस्वामित्व व भू-लगान के इतिहास को जानने के साथ रूस में भूस्वामित्व और भू-लगान के इतिहास को जानना बेहद जरूरी है। इसलिए अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में उन्होंने रूसी भाषा सीखी! साथ ही, मुनाफ़े की औसत दर की गति सम्बन्धी गणनाओं को करते हुए उन्हें यह अहसास हुआ कि इसके लिए कैल्कुलस गणित सीखना अनिवार्य है, तो उन्होंने गणित का अध्ययन भी शुरू कर दिया! आज उनकी 'गणितीय पाण्डुलिपियाँ' भी प्रकाशित हो चुकी हैं, जो अपने आप में आश्चर्य का विषय है और तमाम शोधार्थी उस पर शोध कर रहे हैं। इसके अलावा, उनकी नृजातिविज्ञान (ethnology) में भी अपने अध्ययन के दौरान दिलचस्पी पैदा हो चुकी थी, इसलिए उन्होंने तमाम नृजातिवैज्ञानिक अध्ययन भी किये जो बाद में उनकी 'नृजातिवैज्ञानिक नोटबुक' के रूप में प्रकाशित हुए। मार्क्स

के ज्ञान की गहराई और व्यापकता विराट थी और उनकी अद्वितीय प्रतिभा की एक झलक दिखलाती है।

गरीबी, अभाव, बीमारी, प्रतिक्रान्तिकारियों के विचारधारात्मक हमलों का जवाब देने के कार्यभारों ने उन्हें 'पूँजी' की अपनी समूची परियोजना को पूरा नहीं करने दिया। इसे एक मुकाम तक उनके अनन्य कॉमरेड और दोस्त फ्रेडरिक एंगेल्स ने पूरा किया, जब उन्होंने उनकी पाण्डुलिपियों का सम्पादन करके 'पूँजी' के दूसरे और तीसरे खण्ड को अपनी मृत्यु से पहले प्रकाशित करने की खातिर अपना बचा हुआ पूरा जीवन खर्च कर दिया।

अब हम देखेंगे कि 'पूँजी' की विभिन्न परियोजनाएँ किस प्रकार विकसित हुईं।

## 'पूँजी' की 1857 में पेश पहली परियोजना

1857 में पेश 'पूँजी' की परियोजना छह विस्तृत पुस्तकों की श्रृंखला की थी। यह कुछ इस प्रकार थी :

### पुस्तक - 1

#### पूँजी के बारे में

खण्ड-1 – पूँजी की उत्पादन प्रक्रिया (मज़दूरी के विषय में कुछ बुनियादी चर्चा के साथ) – यह पहले खण्ड के रूप में सितम्बर 1867 में प्रकाशित हुआ।

खण्ड-2 – पूँजी की संचरण प्रक्रिया (इसमें मूलतः उत्पादक और अनुत्पादक श्रम के बारे में भी चर्चा की जानी थी, लेकिन बाद में यह चर्चा इस खण्ड में बेहद संक्षेप में ही हुई, क्योंकि बाद में मार्क्स ने समूची परियोजना में ही परिवर्तन कर दिया था) – इसे मार्क्स ने तैयार पाण्डुलिपि के रूप में अधूरा ही सम्पादित किया था और उसी रूप में छोड़कर गये, जिसे बाद में एंगेल्स ने कुशलता के साथ पूर्ण रूप में सम्पादित किया और खण्ड-2 के रूप में 1885 में प्रकाशित किया।

खण्ड-3 – सम्पूर्णता में पूँजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया (इसमें प्रतिस्पर्द्धा के बुनियादी नियम, संकट का सिद्धान्त, ऋण और लगान का सिद्धान्त शामिल किया जाना था) इसमें ऋण की समूची व्यवस्था पर बहुत व्यवस्थित तरीके से चर्चा को मार्क्स शामिल नहीं कर सके थे; लगान के सिद्धान्त की बुनियाद मार्क्स ने इस तीसरे खण्ड में रख दी थी और मुनाफ़े की औसत दर के गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति का अपना संकट सिद्धान्त भी मार्क्स ने इसमें दे दिया था। – इसे मार्क्स केवल असंग्रहीत और असम्पादित पाण्डुलिपियों के रूप में छोड़कर गये, इसे एंगेल्स ने बाद में संग्रहीत, व्यवस्थित और सम्पादित करके 'पूँजी' के तीसरे खण्ड के रूप में अपनी मृत्यु से ठीक पहले 1894 में प्रकाशित किया।

गौरतलब है कि इन तीन खण्डों को मिलाकर 'पूँजी' की मूल परियोजना की केवल पहली पुस्तक बनती थी! इस मूल परियोजना में कुल छह पुस्तकें थीं। पहली पुस्तक के इन तीन खण्डों में से मार्क्स केवल पहले का प्रकाशन अपने जीवनकाल में करवा पाये। दूसरा खण्ड उन्होंने आधा सम्पादित किया था और तीसरा खण्ड

पूर्ण रूप से असम्पादित पाण्डुलिपियों व नोटबुक के रूप में था। उसे एंगेल्स ने अद्भुत प्रतिभा और कुशलता के साथ सम्पादित किया और प्रकाशित करवाया। ऐसा करने की क्षमता उस समय निस्सन्देह केवल एंगेल्स में ही थी।

### पुस्तक - 2

#### भूस्वामित्व के बारे में

इस दूसरी पुस्तक में मार्क्स ने भूस्वामित्व के विभिन्न रूपों और लगान के विभिन्न रूपों का विस्तृत अध्ययन पेश करने की योजना बनायी थी। इसके लिए वे अमेरिका, यूरोप और रूस में भूस्वामित्व तथा लगान के रूपों के समूचे इतिहास का गहन अध्ययन कर रहे थे। इसके लिए उन्होंने रूसी भाषा तक सीख ली थी। लेकिन इस विषय पर अपने विस्तृत अध्ययन के नतीजों को व्यवस्थित तौर पर पेश करने का मौक़ा मार्क्स को जीवन ने नहीं दिया।

### पुस्तक - 3

#### मज़दूरी के बारे में

इस पुस्तक को बाद में मार्क्स ने परियोजना में से ख़ुद ही हटा दिया था क्योंकि मज़दूरी के प्रश्न पर लम्बी चर्चा पुस्तक-1 के खण्ड-1 में ही आ गयी थी। इस पुस्तक में मूलतः मज़दूरी-रूप के बारे में, मज़दूरी के ऊपर-नीचे होने के कारणों और उसकी अधिकतम सीमा के बारे में, मज़दूरी के विभिन्न रूपों के बारे में विस्तृत अध्ययन पेश किया जाना था। लेकिन चूँकि यह 'पूँजी' के पहले खण्ड में ही समेट लिया गया था, इसलिए बाद में इस पुस्तक को मार्क्स ने परियोजना से ख़ुद ही हटा दिया।

### पुस्तक - 4

#### राज्यसत्ता के बारे में

मार्क्स राज्यसत्ता के विषय में एक अलग पुस्तक की योजना बनाये हुए थे। इसमें राज्यसत्ता की आर्थिक भूमिका, कराधान की भूमिका, मुद्रा जारी करने वाली संस्था के रूप में राज्य की भूमिका और राज्य की एक पूँजीपति के रूप में भूमिका पर चर्चा की जानी थी, लेकिन मार्क्स इस पुस्तक की योजना को पूरा नहीं कर सके। कराधान और राज्यसत्ता की भूमिका के बारे में 'पूँजी' के जो तीन खण्ड प्रकाशित हुए उन्हीं में कुछ बिखरी हुई टिप्पणियाँ थीं, जिनके आधार पर राज्यसत्ता के समूचे मार्क्सवादी सिद्धान्त को बाद में लेनिन और अन्य मार्क्सवादी विचारकों ने विकसित किया।

### पुस्तक - 5

#### अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के बारे में

इस पुस्तक को भी मार्क्स पूरा नहीं कर सके थे, हालाँकि संक्षेप में 'पूँजी' के खण्ड-3 में और कुछ विस्तार में 'बेशी मूल्य के सिद्धान्त' नाम से तीन खण्डों में बाद में प्रकाशित अपनी पाण्डुलिपियों में (जिसे 'पूँजी' का चौथा खण्ड भी कहा जाता है), मार्क्स ने विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का अपना सिद्धान्त पेश किया और रिकार्डों के ग़लत सिद्धान्त को खारिज किया जो कि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त पर आधारित था और जिसके मुताबिक़ मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर क्रीमतें बढ़ती हैं और

मुद्रा की मात्रा घटने पर क्रीमतें घटती हैं। रिकार्डों ने इस आधार पर यह नतीजा निकाला था कि मुक्त व्यापार सारे देशों के लिए बराबर अच्छा है और यह स्वयं देशों के बीच के अन्तर का समतुलन करता रहता है। मार्क्स ने दिखलाया कि ऐसा नहीं होता है। मुक्त व्यापार सर्वाधिक उत्पादकता रखने वाले देश को लाभ पहुँचाता है, व्यापार में उसे सकारात्मक सन्तुलन देता है और उसे अन्य देशों के लिए क़र्जदाता भी बना देता है जबकि कम उत्पादकता वाले देश के साथ इसका ठीक उल्टा होता है, यानी, वह न सिर्फ़ व्यापार घाटा झेलता है बल्कि वह क़र्जदार भी बनता जाता है। लेकिन मार्क्स इस विषय पर जो समूची पुस्तक लिखना चाहते थे, वह सम्भव नहीं हो सका।

### पुस्तक - 6

#### विश्व अर्थव्यवस्था और संकट

इस पुस्तक में समूची विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और उसमें आवर्ती चक्रीय संकट का विस्तृत और गहन विश्लेषण करने की योजना थी। यह काम आगे चलकर अन्य मार्क्सवादी विचारकों ने किया।

'पूँजी' के पहले खण्ड के प्रकाशन तक मार्क्स यह बात समझ चुके थे कि उपरोक्त परियोजना में कुछ पुस्तकें, मसलन, 'मज़दूरी के बारे में' की कोई आवश्यकता नहीं है और उसे मार्क्स ने ख़ुद ही योजना से हटा दिया। लेकिन मार्क्स यह भी समझने लगे थे कि उनके स्वास्थ्य की जो स्थिति थी और जिस अभाव में वह जीवन व्यतीत कर रहे थे, उसमें उनके लिए इस समूची योजना को पूरा करना सम्भव नहीं रह गया था। इसलिए उन्होंने 'पूँजी' की दूसरी परियोजना 1867 में पेश की।

#### 'पूँजी' की दूसरी परियोजना

यह परियोजना मार्क्स ने 1867 को अपने मित्र लुडविग कुगेलमान को लिखे पत्र में पेश की थी। यह कुछ इस प्रकार थी :

**पुस्तक-1. पूँजी की उत्पादन प्रक्रिया (मार्क्स द्वारा अपने जीवन काल में पूरी की गयी और 'पूँजी' खण्ड-1 के रूप में प्रकाशित की गयी)**

**पुस्तक-2. पूँजी की संचरण प्रक्रिया (अधूरी, आधी सम्पादित, बाद में एंगेल्स द्वारा सम्पादित व 'पूँजी' खण्ड-2 के रूप में प्रकाशित की गयी)**

**पुस्तक-3. सम्पूर्णता में पूँजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया की संरचना (बिखरी हुई पाण्डुलिपियों के रूप में मौजूद, बाद में एंगेल्स द्वारा संग्रहीत और सम्पादित तथा 'पूँजी' खण्ड-3 के रूप में प्रकाशित की गयी)**

**पुस्तक-4. सिद्धान्त के इतिहास के विषय में (मार्क्स के आलोचनात्मक नोट्स जो उन्होंने अन्य राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के अध्ययन के दौरान लिए थे; इसे बाद में कार्ल काउत्स्की ने संग्रहीत और सम्पादित करके तीन खण्डों में प्रकाशित किया था, जिन्हें 'बेशी**

**मूल्य के सिद्धान्त' नाम से जाना गया।)**

यह था 'पूँजी' की बदलती योजनाओं का इतिहास और अन्त में उसके प्रकाशन का इतिहास। लेकिन 1867 में 'पूँजी' के पहले खण्ड के प्रकाशन से लेकर 1878 तक मार्क्स ने अपनी पाण्डुलिपियों में कई संशोधन किये, उनमें कई चीज़ें जोड़ी-घटायीं। इनका संक्षिप्त इतिहास जान लेना भी जरूरी है।

## 'पूँजी' के पहले खण्ड के प्रकाशन से लेकर मार्क्स की मृत्यु तक

सितम्बर 1867 में 'पूँजी' का पहला खण्ड मार्क्स के जीवनकाल में ही प्रकाशित हुआ। इसी दौरान वे लगान के रूपों, गणित, कृषि-रसायनशास्त्र, भूविज्ञान, फ़िज़ियोलॉजी और रूसी भाषा का एक साथ अध्ययन कर रहे थे।

1875 में मार्क्स ने मुनाफ़े की औसत दर की गणनाएँ कीं, बेशी मूल्य की दर की कई गणनाएँ कीं। एंगेल्स इन पाण्डुलिपियों को अपनी मृत्यु से पहले सम्पादित नहीं कर सके। वे कहीं न कहीं मौजूद हैं और उम्मीद है कि भविष्य में उनका भी प्रकाशन होगा।

1876 में मार्क्स ने लगान के विषय पर सैद्धान्तिक रूप से एक बेहद महत्वपूर्ण हिस्सा लिखा जिसे 'पूँजी' के तीसरे खण्ड के 44वें अध्याय के रूप में एंगेल्स ने शामिल किया। यह मार्क्स के लगान के महत्वपूर्ण सिद्धान्त को समझने के लिए अनिवार्य अध्याय है।

1878 में उन्होंने उन पुनरुत्पादन स्कीमा को संशोधित किया जिन्हें मार्क्स ने 1870 में तैयार किया था। पुनरुत्पादन स्कीमा क्या होता है, यह हम आगे विस्तार से समझेंगे। 1878 में संशोधित पुनरुत्पादन स्कीमा को एंगेल्स ने 'पूँजी' के दूसरे खण्ड में शामिल किया और जहाँ 1870 की पाण्डुलिपि खत्म होती है और जहाँ 1878 वाली पाण्डुलिपि का हिस्सा शुरू होता है, वहाँ एंगेल्स ने पाठकों के लिए एक नोट भी लगा दिया है, जो उनके कुशल सम्पादन को दिखलाता है।

1878 तक मार्क्स इतना बीमार रहने लगे थे कि अब कोई ताज़ा शोध-कार्य करने की इजाज़त उनका शरीर नहीं दे रहा था। यूरोपीय मानकों से मार्क्स अभी जवान ही माने जाते, क्योंकि वह मात्र 60 साल के थे। लेकिन संघर्ष, बीमारी, दुख, अभाव और तकलीफ़ों के लम्बे जीवन ने उनके शरीर को कमज़ोर बना दिया था। 1881 में उनकी जीवनसंगिनी और क्रान्ति की राह में उनकी कॉमरेड जेनी वॉन वेस्टफ़ॉलेन की मृत्यु ने उन्हें बेहद तोड़ दिया था। 1883 में मार्क्स ने अपनी मृत्यु से पहले अपनी बेटी एलानोर को बुलाया और अपने अनन्य मित्र एंगेल्स के लिए एक नोट और अपनी असम्पादित पाण्डुलिपियों दीं और कहा, 'फ्रेड से कहना कि इनका कुछ अर्थ निकाल लो।' इसके बाद 14 मार्च 1883 को मार्क्स ने अपनी आर्मचेयर में लेटे हुए शान्ति के साथ दुनिया के सर्वहारा वर्ग से अन्तिम विदा ली। उनके शरीर को उनकी जीवनसंगिनी जेनी के बग़ल में ही हाईगेट सेमेटरी, लन्दन में दफ़ना दिया गया। जब

(पेज 14 पर जारी)

# ईरान में सत्ता-विरोधी जन आन्दोलन के तीन माह : संक्षिप्त रिपोर्ट

## ● विवेक

सितम्बर माह में ईरान के गश्त-ए-एरशाद द्वारा महसा अमीनी की बर्बर हत्या के बाद से पूरे देश में लोग सड़कों पर उतरकर हिजाब कानून व अन्य महिला-विरोधी कानूनों के खिलाफ प्रदर्शन कर रहे हैं, तथा इनकी बर्खास्तगी की माँग कर रहे हैं। 100 दिन से भी ज्यादा का समय बीत जाने के बाद भी लोग लगातार इन प्रदर्शनों में भागीदारी कर रहे हैं। ज्ञात हो कि वर्ष 1979 में कट्टरपन्थी इस्लामी शासन के सत्ता में क्राबिज होने के उपरान्त से ईरान में महिलाओं (चाहे किसी भी धर्म से सम्बन्धित हों) के लिए हिजाब पहनना जरूरी है। इसका पालन हो, ऐसा पुख्ता करने के लिए एक विशेष पुलिस बल भी तैनात है, जिसे गश्त-ए-एरशाद कहा जाता है। 16 सितम्बर को महसा अमीनी नामक 21 वर्षीय कुर्द मूल की महिला को गश्त-ए-एरशाद ने हिजाब सही तरह से न पहनने का दोषी पाया और गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार करने के उपरान्त महसा अमीनी को बुरी तरह से मारा-पीटा गया, जिससे उनकी मृत्यु हो गयी। जाँच में यह बात सामने आयी कि उनकी मौत सर में चोट की वजह से हुई है, इसके बावजूद दोषियों को सजा देने के बजाय ईरान की सरकार इस मामले से कन्नी काटती रही। सरकार के इस रवैये के खिलाफ देशभर में इस घटना के खिलाफ गुस्से की लहर फैल गयी व विरोध प्रदर्शन शुरू हो गये। महिलाओं ने इन प्रदर्शनों में आगे रहकर भागीदारी की, सड़कों पर महिलाओं ने हिजाब की होली जलायी, विरोधस्वरूप अपने बाल काटे, तथा ईरान के चौक-चौराहों पर मौजूद अयोतुल्लाह खमेनी व अली खमेनी के पोस्टरों को फाड़ा गया।

इन प्रदर्शनों में प्रदर्शनकारियों पर ईरान की सरकार द्वारा दमन भी किया गया है। ईरान सरकार के मुताबिक करीब 200 लोग पूरे देश में इन प्रदर्शनों के दौरान मारे गये हैं। लगभग 14000 लोगों की गिरफ्तारी हुई है। हालाँकि वास्तविक

तस्वीर इससे भी भयावह हो सकती है। इसी बीच दिसम्बर की शुरुआत में यह खबर आयी कि गश्त-ए-एरशाद खत्म कर दी गयी है। सनद रहे कि गश्त-ए-एरशाद को खत्म करने की माँग पिछले एक दशक से उठायी जा रही है। लेकिन लगातार हो रहे प्रदर्शनों के दबाव के कारण दिसम्बर की शुरुआत में ईरान के अटॉर्नी जनरल ने बयान दिया था कि गश्त-ए-एरशाद खत्म कर दी गयी है। हालाँकि ईरान के लोगों ने कहा है कि अभी भी गश्त-ए-एरशाद सक्रिय है और पहले की ही तरह अपना काम कर रही है। किन्तु, प्रदर्शनकारी गश्त-ए-एरशाद के खत्म होने को अपनी आखिरी मंजिल नहीं मानते हैं। बल्कि वे इस्लामिक शासन का अन्त चाहते हैं। ईरान में सत्ता में क्राबिज अधिसत्तावादी इस्लामिक कट्टरपन्थी शासन के खिलाफ जनता में आम तौर पर एक गुस्सा बना हुआ। इसी वर्ष के मध्य में अनाज संकट व महँगाई के कारण भी लोग सड़कों पर उतरे थे। वैसे अनाज संकट का मुख्य कारण पश्चिमी देशों विशेषकर अमेरिका द्वारा लगाये व्यापार प्रतिबन्ध हैं।

ईरान में कहने को तो लोगों को वोट देने का अधिकार है, एक चुनी गयी सरकार है लेकिन चुनी गयी सरकार भी सुप्रीम लीडर और उसके नेतृत्व वाली गार्जियन काउंसिल के मातहत ही काम करती है। सुप्रीम लीडर का पद सर्वोपरि माना जाता है। ईरान की सरकार द्वारा कई स्त्री-विरोधी कानूनों में से एक हिजाब कानून भी है। वर्ष 2021 में ईरान की संसद में पेश घरेलू हिंसा-विरोधी विधेयक को मंजूरी अभी तक नहीं मिल पायी है क्योंकि कट्टरपन्थी धड़ा इसे इस्लामी मूल्य-मान्यता के अनुरूप नहीं देखता है। इसके अतिरिक्त ईरान में घोर मजदूर-विरोधी कानून मौजूद हैं। यूनियन से जुड़ी गतिविधियों पर कई तरीके की पाबन्दियाँ हैं तथा हड़ताल को गैर-कानूनी करार दिया गया है।

वर्ष 2019 में भी ईरान की जनता

राशन और ईंधन के दामों में बढ़ोतरी तथा तत्कालीन राष्ट्रपति हसन रूहानी के भ्रष्ट शासन के खिलाफ सड़कों पर उतरी थी। ईरान की सत्ता द्वारा इन प्रदर्शनों का दमन किया गया था, इस दौरान सैकड़ों प्रदर्शनकारी मारे गये थे और हजारों लोगों को कैद किया गया था। ईरान में ट्रेड यूनियन में सक्रियता या इससे जुड़े मामलों में दस वर्ष तक सजा दी जाती है। जो रहे-सहे अधिकार मजदूरों के पास थे भी ईरान में इस्लामी शासन के 4 दशकों में वो भी छीन लिये गये हैं। प्रदर्शनों में भागीदारी करते हुए ईरान के ट्रेड यूनियनों व शिक्षकों के साझा काउंसिल ने 26 सितम्बर और 28 सितम्बर को राष्ट्रीय हड़ताल आयोजित की। इस दौरान फ़ैक्टरियाँ, स्कूल व विश्वविद्यालयों में कामकाज ठप्प रहा, कई शिक्षकों ने आन्दोलन के समर्थन में विश्वविद्यालयों से इस्तीफ़ा भी दिया। अभी भी छात्र-शिक्षक व शहरी मजदूर अपने स्तरों पर हड़ताल आयोजित कर आन्दोलन को जीवित रखे हुए हैं। आन्दोलन की शुरुआत में जहाँ जनता 'ज़न, जिन्दगी, आज़ादी' के नारे उठा रही थी अब इससे आगे बढ़ते हुए यह नारा दे रही है कि 'न मुल्ला चाहिए, न शाह चाहिए, हमें सिर्फ़ जनवाद चाहिए'।

हालाँकि, इस आन्दोलन की मुख्य कमज़ोरी इसका संगठित नहीं होना है। मूल रूप से यह स्वतःस्फूर्त तरीके से पनपा हुआ आन्दोलन है। इसे दिशा देने के लिए किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व का अभाव है। जिसके कारण ईरान की सत्ता को दमन करने में आसानी हुई है। इसके साथ ही आन्दोलन में शाह के शासन के समर्थकों ने घुसपैठ की कोशिश की है। इन सबके बावजूद लोग अपनी मूलभूत माँगों को लेकर जुटे हुए हैं।

वर्ष 1979 में शाह की सत्ता गिरी तो उसका मुख्य कारण सेना के एक बड़े हिस्से का इस्लामी चरमपन्थी समूह के साथ हो जाना था। इस बार के प्रदर्शनों

में भी ऐसे वाक्या हुए हैं जब पुलिस प्रदर्शनकारियों के साथ खड़ी हुई है। पर ऐसा अभी कम ही हुआ है। बढ़ती महँगाई और बेरोज़गारी के कारण जनता के बड़े हिस्से में विरोध की लहर व्याप्त है। पर संगठन के अभाव में यह ऐसे बिखरे विरोध प्रदर्शनों के तौर पर ही दिख रहा है।

हालाँकि ईरान के इस्लामी शासन के लिए यह पिछले चार दशकों में सबसे मुश्किल वक़्त है। ईरान में चरमपन्थी इस्लामी शासन का उभार 1979 में रज़ा शाह की सत्ता को हटाकर हुआ था। रज़ा शाह अमेरिकी कठपुतली भर था, जो ख़ुद 1953 में अमरीका व ब्रिटेन की मदद से जनता द्वारा चुनी गयी सरकार का तख्तापलट करके सत्ता में आया था। उसके शासन काल में तेल व अन्य प्राकृतिक संसाधन पर विदेशी नियंत्रण को बढ़ावा दिया गया था तथा कई मजदूर-विरोधी कानून लागू किये थे। 1970 के दशक में वामपन्थी पार्टियों के नेतृत्व में ईरान के मजदूरों ने कई शानदार संघर्ष लड़े तथा कई मसलों पर रज़ा शाह पहलवी को क्रम पीछे खींचने पर मजबूर भी किया। मजदूर आन्दोलन के बढ़ते दबाव के कारण ईरान के शाह ने कुछ तथाकथित सुधार लागू किये, जिसे उसे उसने श्वेत क्रान्ति का नाम दिया। इस दौरान सीमित अर्थों में भूमि सुधार भी हुए, लेकिन इसके कारण से छोटे किसानों की एक बड़ी आबादी पैदा हो गयी, जो राजनीतिक तौर पर दुर्लभ थी, यही आबादी आगे चलकर इस्लामी चरमपन्थियों की समर्थक भी बनी। इसकी एक वजह यह भी थी कि इस आबादी में कम्युनिस्ट अपने आधार को विकसित नहीं कर पाये और उनके पिछड़ेपन का लाभ इस्लामिक कट्टरपन्थियों को मिला। राज्य द्वारा नियंत्रित कल-कारखानों के निजीकरण के कारण भी जनता में असन्तोष बढ़ा, शहरी मध्यवर्ग के बीच बेरोज़गारी बढ़ी, यह आबादी एक हद तक अयोतुल्लाह खमेनी के धुर

प्रतिक्रियावादी प्रचार से प्रभावित हुई। इस तरह से शहरी व ग्रामीण इलाकों में अयोतुल्लाह खमेनी के प्रतिक्रियावादी नेतृत्व का आधार बढ़ता गया तथा नेतृत्व की कमज़ोरियों के कारण ईरान की वामपन्थी पार्टियाँ जनता के बीच अपना आधार खोती चली गयीं। 1979 तक अयोतुल्लाह खमेनी के नेतृत्व में ईरान में इस्लामी राज्य की स्थापना हो गयी। प्रख्यात ईरानी इतिहासकार एरवैण्ड अब्रहमियन ने यहाँ तक कहा है कि श्वेत क्रान्ति रज़ा शाह पहलवी द्वारा ईरान में लाल क्रान्ति को रोकने का प्रयास था, लेकिन इसने ईरान में इस्लामी क्रान्ति (पढ़ें 'प्रतिक्रान्ति') का रास्ता आसान कर दिया। फलस्वरूप ईरान में इस्लामी चरमपन्थी अधिसत्तावादी राजकीय पूँजीवादी राज्यसत्ता स्थापित हुई।

कहने को तो ईरान में अभी भी वामपन्थी दल मौजूद हैं, लेकिन ईरान में कट्टरपन्थी शासन और दमन के कारण वे बिखरी हुई हैं और उनका नेतृत्व दूसरे देशों में निर्वासित है।

जैसा कि पहले इंगित किया गया है कि इस आन्दोलन में क्रान्तिकारी नेतृत्व का अभाव है। इसी वजह से हो सकता है कि देर-सबेर यह आन्दोलन धीमा पड़ जाये। बहुत मुमकिन है कि ईरान के इस मौजूदा आन्दोलन का हथ्र भी 2011 के अरब उभार की तरह हो। पर इन सबके बावजूद ईरान की जनता के इस बहादुराना संघर्ष ने उदाहरण स्थापित किया है। जिस तरह से पिछले 5 सालों में ईरान में व्यवस्था-विरोधी स्वर मजबूत हुए हैं, उससे वहाँ प्रगतिशील परिवर्तन की उम्मीद तो अवश्य ही जगती है। लेकिन यह भी तभी हो सकेगा जबकि आन्दोलन स्वतःस्फूर्तता से सचेतनता की ओर आगे बढ़े और यह एक कम्युनिस्ट हिरावल पार्टी की मौजूदगी में ही हो सकता है, जिसका निर्माण आज हमारे ही देश की तरह ईरान में भी प्रधान अन्तरविरोध है।

## मार्क्स के आर्थिक चिन्तन के विकास के प्रमुख चरण

वैज्ञानिक के समान उन्होंने कुछ चीज़ों को सही तरीके से समझा तो कुछ चीज़ों के बारे में वे पूर्णतः सन्तुलित समझदारी नहीं बना सके। किसी भी विज्ञान के समान क्रान्ति के विज्ञान की यात्रा भी सामाजिक व्यवहार के जरिए सिद्धान्त के विकास और सिद्धान्त के जरिए सामाजिक व्यवहार के मार्गदर्शन और इसी प्रक्रिया में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के ही उत्तरोत्तर विकास से ही होकर गुजरती है। इस बात को कुछ लोग समझ पाये और कुछ नहीं। नतीजतन, तीन प्रकार के लोग हैं जो 'पूँजी' के बारे में तीन अलग-अलग नज़रिये रखते हैं।

पहली किस्म उनकी है जो केवल खण्ड-1 को ही शुद्ध और पूर्ण मानते हैं क्योंकि केवल इसे ही मार्क्स पूरा करके अपने जीवनकाल में प्रकाशित कर पाये थे। इसके बाद के खण्डों को वे विचलन के तौर पर देखते हैं या उनमें दिलचस्पी नहीं रखते। ज़ाहिर है, ऐसे मार्क्सविद वास्तव में मार्क्सवादी नहीं हैं, मार्क्सवाद को एक विज्ञान के रूप में समझते ही नहीं

हैं, बल्कि 'पूँजी' को किसी पैगम्बर का पवित्र ग्रन्थ समझ बैठते हैं।

दूसरे किस्म के लोग वे हैं जो तीनों खण्डों को निरन्तरता में नहीं देख पाते, उनकी एकता को नहीं समझ पाते और उनके बीच ही आपसी अन्तरविरोध ढूँढ़ने लगते हैं और कई बार इसे मार्क्स और एंगेल्स के बीच के अन्तरविरोध के तौर पर भी पेश करने लग जाते हैं। मिसाल के तौर पर, कुछ लोग कहते हैं कि मार्क्स ने मुनाफ़े की औसत दर में गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति का कोई सिद्धान्त नहीं दिया था! यह तो एंगेल्स का सिद्धान्त है! इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता, अगर यह आपमें से भी किसी का सिद्धान्त होता तो इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता! असल बात यह है कि यह सही है या नहीं। मार्क्स के बाद की दुनिया का आर्थिक इतिहास इस सिद्धान्त को सही साबित करता है। और आज इस बात पर सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता कि यह सिद्धान्त मार्क्स ने ही दे दिया था, कई शोधार्थियों ने इस बात को निस्सन्देह सिद्ध कर

दिया है। मार्क्स की पाण्डुलिपियों को सम्पादित करने का काम एंगेल्स ने शानदार तरीके से किया था, इसमें कोई दोराय नहीं हो सकती है।

तीसरी किस्म उन लोगों की है जो मार्क्स के समूचे आर्थिक चिन्तन के बुनियादी द्रन्दात्मक तर्क को समझते हैं, तीनों खण्डों की निरन्तरता और एकता को समझते हैं और इस बात को समझते हैं कि 'पूँजी' की परियोजना आज भी एक जारी परियोजना है, जिसे मार्क्स के बाद के समय में काऊत्स्की (जब तक वह मार्क्सवादी थे), हिल्फ़र्टिंग (जब तक वह मार्क्सवादी थे), लेनिन, बुखारिन, आदि तमाम मार्क्सवादी चिन्तकों ने जारी रखा। आज हम इनमें से कुछ के चिन्तन में कुछ गलतियाँ अवश्य निकाल सकते हैं। लेकिन उन्होंने 'पूँजी' को एक जारी परियोजना के तौर पर समझा और यह समझा कि जब तक पूँजीवादी व्यवस्था है, तब तक उसकी आर्थिक कार्यप्रणाली में आने वाले परिवर्तनों को मार्क्स के राजनीतिक

अर्थशास्त्र के आधार पर समझना और व्याख्यायित करना सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए अनिवार्य है।

आज भी इस परियोजना को जारी रखना मार्क्स की महान विरासत के साथ क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के हिरावल द्वारा एक सही रिश्ता कायम करना होगा। इस काम को अंजाम देने के लिए मार्क्स के राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में एक सन्तुलित, सुसंगत और सम्पूर्ण समझदारी बनाना हम सर्वहाराओं के लिए अनिवार्य है। मौजूदा श्रृंखला में हम इसी दिशा में एक प्रयास कर रहे हैं।

(अगले अंक में सामाजिक श्रम विभाजन, विनिमय का आरम्भ, मूल्य के रूप, मुद्रा और मालों के संचरण के बारे में)

### (पेज 13 से आगे)

वह मरे तो उनकी अध्ययन टेबल पर उनकी एक नोटबुक पड़ी थी, जिसके कवर पर शीर्षक था : 'वर्गों के बारे में'।

### 'पूँजी' एक जारी परियोजना है

मार्क्स सर्वप्रथम एक महान सर्वहारा क्रान्तिकारी और सर्वहारा वर्ग के शिक्षक थे। अपने अनन्य मित्र और प्रतिभावान कॉमरेड एंगेल्स के साथ मिलकर उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन, विज्ञान और राजनीतिक अर्थशास्त्र की नींव रखी जो सर्वहारा वर्ग के मार्गदर्शक सिद्धान्त हैं।

मार्क्सवाद क्रान्ति का विज्ञान और क्रान्ति का दर्शन है। किसी भी विज्ञान के समान यह भी सतत् विकसित होता आया है। मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद पूँजीवादी व्यवस्था में आने वाले बदलावों को तमाम मार्क्सवादियों ने मार्क्स व एंगेल्स की पद्धति को ही लागू करके समझने का प्रयास किया। हर

# समान नागरिक संहिता पर मज़दूर वर्ग का नज़रिया क्या होना चाहिए?

(पेज 16 से आगे)  
करने को लेकर तीखी बहस हुई थी। इस बहस में अधिकांश मुस्लिम सदस्यों ने समान नागरिक संहिता का ज़बर्दस्त विरोध किया जिसकी वजह से समान नागरिक संहिता पर आम सहमति नहीं बन पायी और उसे मूलभूत अधिकारों की बजाय राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में शामिल किया गया। 1950 में जब हिन्दू पर्सनल लॉ को महिलाओं के पक्ष में सुधार लाने के लिए हिन्दू कोड बिल का प्रस्ताव लाया गया तो कांग्रेस के भीतर पटेल, पन्त, राजेन्द्र प्रसाद, जे.बी. कृपलानी जैसे दक्षिणपन्थियों ने इस पर घोर आपत्ति की। गौरतलब है कि हिन्दू कोड बिल पर तीखी आपत्ति जताने वालों में हिन्दू महासभा के श्यामा प्रसाद मुखर्जी भी शामिल थे जो उस समय नेहरू की कैबिनेट में मंत्री थे। नेहरू हिन्दू पर्सनल लॉ में सुधार के पक्षधर थे लेकिन कांग्रेस के भीतर एकमत न होने की वजह से उन्होंने भी दुलमुल खैया अपनाया। इन सबसे नाराज़ होकर ही अम्बेडकर ने नेहरू की कैबिनेट से इस्तीफा दिया था। लेकिन यह भी सच है कि हिन्दू कोड बिल में ही सिख, जैन व बौद्ध समुदायों को शामिल करने का प्रावधान भी अम्बेडकर की मर्जी से हुआ जिसके अनुसार हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की यह सोच वैधीकृत होती थी कि इस्लाम व ईसाई धर्म को छोड़कर अन्य धर्म हिन्दू सभ्यता का हिस्सा हैं और एक प्रकार से हिन्दू धर्म की ही प्रोटेस्टेण्ट धाराएँ हैं। पहली लोकसभा के चुनाव के बाद नयी सरकार बनने के बाद 1955-56 के बीच हिन्दू कोड बिल के अधिकांश प्रावधानों को कई अधिनियमों, हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 और हिन्दू दत्तक ग्रहण और पोषण अधिनियम 1956 और हिन्दू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम के रूप में पारित करके हिन्दू पर्सनल लॉ में सुधार की दिशा में क्रम उठाया गया। हालाँकि अभी भी हिन्दू पर्सनल लॉ में महिलाओं को बराबरी का दर्जा दिलाने के लिए कई सुधारों की ज़रूरत है, फिर भी उन्हें काफ़ी हद तक आधुनिक बनाया जा चुका है।

आज़ादी के बाद कांग्रेस सहित सभी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों ने मुस्लिम पर्सनल लॉ में सुधार करने या समान नागरिक संहिता बनाने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया। इस प्रकार अंग्रेज़ों ने जो सख्त मुस्लिम अस्मिता की नींव रखी उसे आज़ादी के बाद भारत के बुर्जुआ शासकों ने वोटबैंक की अपनी घृणित राजनीति के मद्देनज़र और मज़बूत बनाने का काम किया।

मुस्लिम समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर अंग्रेज़ों ने जो लगाम लगायी थी उसे आज़ादी के बाद बुर्जुआ शासकों ने ढीला करने की बजाय कई मायनों में और कसने का काम किया। मुस्लिम पर्सनल लॉ में किसी भी प्रकार के बदलाव को रोकने के लिए 1972 में गठित ऑल इण्डिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड का गठन हुआ जिसने इस्लाम के उलेमाओं (मिसाल के लिए देवबन्दी उलेमा) के साथ मिलकर आम मुस्लिम आबादी को धर्म के चंगुल में कसकर बाँधने का प्रयास किया और कांग्रेस सहित सभी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों ने उनकी मदद से आम मुस्लिम आबादी को महज़ वोटबैंक में तब्दील करने का काम किया। यह सच्चाई 1980 के दशक में प्रसिद्ध शाह बानो प्रकरण में नंगे रूप में सामने आयी जब राजीव गाँधी सरकार ने अपना मुस्लिम वोटबैंक बचाने के लिए शाह बानो नामक एक तलाक़शुदा मुस्लिम वृद्ध महिला के गुज़ारे-भत्ते सम्बन्धी उच्चतम न्यायालय के फ़ैसले को खारिज करने के लिए संसद से एक क़ानून पारित करवाया। गौरतलब है कि उस समय तमाम उदारवादी मुस्लिम पर्सनल लॉ की बजाय उच्चतम न्यायालय के फ़ैसले को तरज़ीह देते हुए राजीव गाँधी सरकार से आग्रह कर रहे थे कि वो ऐसा क़ानून न पारित करे। परन्तु कांग्रेस को उस समय महिलाओं के अधिकार और मुस्लिमों में आधुनिकता को बढ़ावा देने की नहीं बल्कि अपने वोट बैंक की परवाह थी क्योंकि उसको लगता था कि बहुसंख्यक आम मुस्लिम आबादी ऑल इण्डिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड और उलेमाओं के शिकंजे में है। मुस्लिम कट्टरपन्थियों के इस तुष्टिकरण का सीधा फ़ायदा हिन्दू हितों की बात करने वाली फ़ासीवादी भाजपा को हुआ और उसने कांग्रेस को छद्म-धर्मनिरपेक्ष बताते हुए समान नागरिक संहिता के मुद्दे को ज़ोर-शोर से उठाना शुरू कर दिया। गौरतलब है कि शाह बानो प्रकरण के तुरन्त बाद राजीव गाँधी सरकार ने संघ परिवार के हिन्दू कट्टरपन्थियों का तुष्टिकरण करते हुए राम जन्मभूमि का ताला खुलवाने का आदेश दिया जिसका जमकर फ़ायदा उठाते हुए राम मन्दिर आन्दोलन तेज़ कर दिया।

## भाजपा समान नागरिक संहिता का मुद्दा क्यों उठा रही है?

हम ऊपर देख चुके हैं कि 1950 के दशक में संघ परिवार ने अपनी ब्राह्मणवादी और घोर स्त्री-विरोधी मानसिकता का परिचय देते हुए हिन्दू कोड बिल का पुरजोर विरोध किया

था। इस परिवार के अनुषंगी संगठनों ने हिन्दुओं के पर्सनल लॉ में प्रस्तावित बदलावों के खिलाफ़ कई विरोध-प्रदर्शन भी आयोजित किये थे। हिन्दू औरतों को बराबरी का दर्जा दिलाने का कट्टर-विरोधी यही फ़ासिस्ट परिवार आजकल निहायत ही बेशर्मी के साथ मुस्लिम औरतों की बराबरी की बात कर रहा है और समान नागरिक संहिता की वकालत कर रहा है। दरअसल संघ परिवार द्वारा यह मुद्दा धर्मनिरपेक्षता या स्त्री-अधिकारों के समर्थन में नहीं बल्कि मुस्लिमों को पिछड़ा साबित करने की उसकी घृणित साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति के हिस्से के रूप में उठाया जा रहा है।

अगर वाक़ई इन्हें आधुनिकता, धर्मनिरपेक्षता और स्त्री-समानता की ज़रा भी फ़िक्र होती तो आज़ादी के बाद से वे लगातार पुरातनपन्थी, धार्मिक कट्टरपन्थी और पितृसत्तात्मक मूल्यों और विचारों की समाज में बौद्धार न करते। ये वही संघ परिवार है जिसके सदस्यों ने 1980 के दशक में रूपकँवर के सती होने को हिन्दू धर्म की परम्परा का हिस्सा बताते हुए उसके पक्ष में लोगों को लामबन्द करने का प्रयास किया था। ये वही संघ परिवार है जिसके सदस्य भँवरी देवी से लेकर आसिफ़ा और बिल्किस बानो के बलात्कारियों के समर्थन में बेशर्मी से उतरते आये हैं। यह फ़ासिस्ट परिवार समान नागरिक संहिता का मुद्दा शुरू से नहीं उठा रहा था, बल्कि इन्होंने यह मुद्दा तब उठाना शुरू किया जब इनकी मर्जी के खिलाफ़ हिन्दू कोड बिल पास हो गया और हिन्दू महिलाओं को एक हद तक बराबरी का दर्जा मिल गया। उसके बाद इन्होंने यह कहना शुरू किया कि केवल हिन्दू धर्म के पर्सनल लॉ में बदलाव क्यों हुए, इस्लाम में क्यों नहीं!

स्पष्ट है कि समान नागरिक संहिता पर इनकी अवस्थिति शुरू से ही प्रतिक्रियावादी रही है। वास्तव में अभी भी ये समान नागरिक संहिता लागू करने को लेकर गम्भीर नहीं हैं क्योंकि ये जानते हैं कि समान नागरिक संहिता का मतलब यह भी होगा कि हिन्दू धर्म की महिलाओं को भी सम्पत्ति में पूरी तरह बराबरी का अधिकार देना होगा और हिन्दू अविभाजित परिवार जैसी धारणा ख़त्म हो जायेगी जिससे हिन्दू धन्नासेठों को करों में मिलने वाली भारी छूट भी ख़त्म हो जायेगी। इन धन्नासेठों के हितों की सबसे पुरजोर ढंग से नुमाइन्दगी करने वाली भाजपा वास्तव में समान नागरिक संहिता को वास्तव में अमल में लाने में आनाकानी करेगी। उसके लिए यह मुद्दा मुस्लिमों के खिलाफ़ नफ़रत फैलाने के एक हथकण्डे से ज़्यादा कुछ नहीं है।

संघ परिवार के फ़ासिस्टों का पर्दाफ़ाश करते हुए जनता के सामने यह सच्चाई उजागर करनी चाहिए कि अगर भाजपा को धर्मनिरपेक्षता और समान नागरिक संहिता की इतनी चिन्ता होती तो वह सीएए जैसा धर्म के आधार पर भेदभाव करने वाला क़ानून क्यों लेकर आयी। अगर उन्हें मुस्लिम महिलाओं की इतनी फ़िक्र है तो उन्होंने बिल्किस बानो के बलात्कारियों को रिहा करने में एड़ीचोटी का ज़ोर क्यों लगाया। अगर उन्हें वास्तव में धर्मों की दीवार तोड़ने की चिन्ता है तो वे समय-समय पर लव-जिहाद जैसा फ़र्ज़ी मुद्दा क्यों उछालते हैं जो हिन्दुओं और मुस्लिमों की धार्मिक संकीर्णताओं को क़ायम रखने का काम करता है।

## समान नागरिक संहिता पर मज़दूर वर्ग का नज़रिया

अब तक के मानव इतिहास का सबसे उन्नत वर्ग होने के नाते मज़दूर वर्ग को समाज के हर क्षेत्र में आधुनिक मूल्यों, मान्यताओं, विधि-विधानों के समर्थन में पुरजोर ढंग से खड़ा होना चाहिए। पूँजीवादी समाज में आधुनिकता को बढ़ावा मिलेगा तो समाजवादी समाज के निर्माण का आधार मज़बूत होगा। साथ ही मज़दूर वर्ग को महिलाओं सहित सभी उत्पीड़ित लोगों के पक्ष में भी खड़ा होना चाहिए क्योंकि तभी वह यह उम्मीद कर सकता है कि उत्पीड़ित लोग शोषण के विरुद्ध उसकी लड़ाई में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ेंगे। गौरतलब है कि शरिया जैसे धार्मिक क़ानून की उत्पत्ति सातवीं सदी में अरब प्रायद्वीप के क़बीलाई समाज के दौर में हुई थी जो आज के आधुनिक पूँजीवादी युग की जटिलताओं से निपटने में बिल्कुल भी सक्षम नहीं है और उस दौर के अनुसार भी यह क़ानून स्त्रियों को कभी भी समान अधिकार नहीं दे सकता था क्योंकि उन समाजों में पितृसत्ता स्थापित हो चुकी थी।

यही वजह है कि बाद में कई इस्लामी देशों ने भी इन शरिया क़ानूनों से किनारा कर लिया और तमाम इस्लामी देशों ने उनमें आमूलचूल फेरबदल किये हैं। भारत की बुर्जुआ राजनीति में धर्मनिरपेक्षता और धार्मिक आज़ादी के नाम पर इन पुरातनकालीन क़ानूनों को बरकरार रखने की जो परिपाटी चल पड़ी है वह आम मुस्लिम आबादी और ख़ासकर मुस्लिम महिलाओं के हितों के खिलाफ़ है और इसलिए यह मज़दूर वर्ग के भी हितों के खिलाफ़ है। इसका फ़ायदा मुस्लिम समुदाय के वक्फ़ बोर्डों व ऑल इण्डिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड के पदाधिकारियों और उलेमाओं और इस्लामी कट्टरपन्थ की राजनीतिक कर

रहे नेताओं के एक छोटे से तबके को ही होता है। साथ ही इसका सीधा लाभ भाजपा व संघ परिवार की हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादी राजनीति को होता है।

आज अगर संघ परिवार किसी भी मुद्दे में हिन्दू-मुस्लिम कोण ढूँढ़ने में सफल हो पाता है तो इसका एक कारण ग़ैर-भाजपा पार्टियों द्वारा आज़ादी के बाद से ही मुस्लिम अस्मितावादी राजनीति को बढ़ावा देना रहा है। मज़दूर वर्ग की ग़द्दार संशोधनवादी पार्टियों ने भी वर्गीय राजनीति की बजाय अस्मितावादी राजनीति को ही बढ़ावा दिया और अभी भी दे रही हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि समान नागरिक संहिता जैसा मुद्दा जो क़ायदे से वामपन्थ द्वारा उठाया जाना चाहिए था उसे भाजपा अपनी फ़ासिस्ट रणनीति के तहत उठा रही है।

समान नागरिक संहिता के मुद्दे को कांग्रेसी, समाजवादी और संशोधनवादी नेता और बुद्धिजीवी अल्पसंख्यकों की धार्मिक स्वतंत्रता के उल्लंघन के रूप में प्रचारित करते आये हैं। उनका यह कहना होता है कि पर्सनल लॉ में फेरबदल करना मुस्लिमों की धार्मिक स्वतंत्रता पर हमला होगा। लेकिन अगर मुस्लिमों की धार्मिक स्वतंत्रता का पैमाना शरिया क़ानूनों की मौजूदगी है तब तो उन्हें फ़ौजदारी (क्रिमिनल) मामलों तथा पर्सनल लॉ के अलावा अन्य सिविल मामलों जैसे ज़मीन बेचने/ख़रीदने, मकान किराये पर देने, अनुबन्ध, सोसायटी, ट्रस्ट आदि के सम्बन्ध में भी शरिया को लागू करने की वकालत करनी चाहिए। लेकिन ये मामले तो अंग्रेज़ों के समय से ही आधुनिक अदालतों द्वारा सुने जाते रहे हैं और मुस्लिम आबादी को इनसे कभी कोई समस्या नहीं हुई और न ही इन मामलों को शरिया के तहत लाने की माँग उठी। पर्सनल लॉ से सम्बन्धित मामलों में भी उच्चतम न्यायालय के कई मामलों (जैसे सरला मुदगल, डेनियल लतीफ़ी और शबाना हाशमी के मामले) में पर्सनल लॉ के खिलाफ़ फ़ैसला दिया है और आम मुस्लिम या अन्य अल्पसंख्यक आबादी को इन फ़ैसलों से भी कोई आपत्ति नहीं हुई।

कई नारीवादी भी समान नागरिक संहिता की बजाय वर्तमान पर्सनल लॉ में ही सुधार करके औरतों को ज़्यादा अधिकार दिलवाने की वकालत करती आयी हैं। लेकिन वे भूल जाती हैं कि किसी भी धर्म के पर्सनल लॉ में कितने भी सुधार कर लिये जायें वे महिलाओं को बराबरी का दर्जा दे ही नहीं सकते। यह सर्वविदित है कि वर्ग समाज के अस्तित्व में आने के बाद सभी धर्मों ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था को समाज

# समान नागरिक संहिता पर मज़दूर वर्ग का नज़रिया क्या होना चाहिए?

## ● आनन्द

समान नागरिक संहिता (यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड) का मामला एक बार फिर सुर्खियों में है। गत 9 दिसम्बर को भाजपा नेता किरोड़ी लाल मीना ने राज्यसभा में एक प्राइवेट मेम्बर बिल प्रस्तुत किया जिसमें पूरे देश के स्तर पर समान नागरिक संहिता लागू करने के लिए एक कमेटी बनाने की बात कही गयी है। इससे पहले नवम्बर-दिसम्बर के विधानसभा चुनावों के पहले गुजरात, हिमाचल प्रदेश और उत्तराखण्ड की भाजपा सरकारों ने भी अपने-अपने राज्यों में समान नागरिक संहिता लाने की मंशा ज़ाहिर की थी। इसमें कोई दो राय नहीं है कि भाजपा जैसी फ़ासिस्ट पार्टी द्वारा समान नागरिक संहिता की वकालत करने के पीछे विभिन्न धर्म की महिलाओं को बराबरी का दर्जा दिलाने की मंशा नहीं बल्कि उसकी मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीतिक चाल काम कर रही है। विपक्षी पार्टियों ने भाजपा द्वारा फेंके गये इस कूटनीतिक-राजनीतिक जाल में फँसते हुए तुरन्त समान नागरिक संहिता का सिरे से विरोध किया। ऐसे में यह सवाल मौजूद हो जाता है कि मज़दूरवर्गीय ताकतों को इस मामले पर क्या अवस्थिति अपनानी चाहिए। इस सवाल का जवाब देने से पहले हमें समान नागरिक संहिता का अर्थ और भारत की ठोस परिस्थिति में ऐतिहासिक रूप से उसके विकास की प्रक्रिया को समझना होगा।

## समान नागरिक संहिता (यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड) का अर्थ क्या है?

समान नागरिक संहिता का मतलब ऐसे क़ानूनों से है जो कि विवाह, तलाक़, तलाक़ के बाद दिया जाने वाला गुजारा-भत्ता, सम्पत्ति का उत्तराधिकार और बच्चा गोद लेने या बच्चों के अभिभावक बनने की प्रक्रिया से सम्बन्धित होते हैं और जो सभी धर्मों व सम्प्रदायों पर समान रूप से लागू होते हैं। ग़ौरतलब है कि भारत में इस समय उपरोक्त मामलों में विभिन्न धर्मों के अपने-अपने क़ानून लागू होते हैं जिन्हें पर्सनल लॉ कहा जाता है। समान नागरिक संहिता के प्रश्न पर भारत की संविधानसभा में तीखी बहस हुई थी, लेकिन आम सहमति न होने की वजह से उसे मौलिक अधिकार के अध्याय के बजाय राज्य के नीति निदेशक तत्वों के तहत अनुच्छेद 44 में रखा गया जो राज्य को यह निर्देश देता है कि वह पूरे देश के स्तर पर समान नागरिक

संहिता लागू करने का प्रयास करेगा। परन्तु वोटबैंक की बुर्जुआ राजनीति के दाँवपेंच की वजह से संविधान के लागू होने के 7 दशक बाद भी कई अन्य नीति निदेशक तत्वों की ही तरह यह प्रावधान भी संविधान की धूल फाँक रहा है। ग़ौर करने वाली बात यह है कि आज़ादी के बाद हालाँकि हिन्दू धर्म के पर्सनल लॉ में 1954-56 के बीच हिन्दू कोड बिल पास होने के बाद महत्वपूर्ण प्रगतिशील सुधार हुए जिसे सिख, जैन व बौद्ध समुदायों पर भी लागू किया जाता है, परन्तु मुस्लिम पर्सनल लॉ में अभी तक कोई सुधार नहीं हुआ है। कांग्रेस व अन्य तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के इस दोमुँहेपन का लाभ उठाकर भाजपा लम्बे समय से समान नागरिक संहिता का मुद्दा उछालती आयी है।

## भारत में समान नागरिक संहिता की अवधारणा का ऐतिहासिक विकास

वैसे तो किसी भी आधुनिक बुर्जुआ लोकतंत्र में सभी नागरिकों के लिए सभी मामलों में एक ही धर्मनिरपेक्ष क़ानून होना स्वाभाविक-सी बात है, लेकिन भारत में ऐतिहासिक कारणों से पर्सनल लॉ से जुड़े मामलों में ऐसा अभी तक नहीं हो पाया है। ग़ौरतलब है कि दुनिया के अधिकांश बुर्जुआ लोकतांत्रिक देशों में सभी नागरिकों के लिए सभी मामलों के लिए एक ही क़ानून विद्यमान है। यह बात न सिर्फ़ पश्चिमी बुर्जुआ लोकतांत्रिक देशों पर लागू होती है बल्कि पूर्व के देशों में भी 19वीं सदी से ही समान नागरिक संहिता के होने को आधुनिकता की परियोजना के अभिन्न हिस्से के रूप में देखा जाता रहा है। जापान में 1896 में, थाईलैण्ड में 1925 में, तुर्की में 1926, चीन में 1929-31 से ही समान नागरिक संहिता लागू हो चुकी थी। तुर्की के अतिरिक्त ट्यूनीशिया, मिस्र, लीबिया, सीरिया, अल्जीरिया और अज़रबैजान जैसे मुस्लिम बहुसंख्या वाले देशों में भी समान नागरिक संहिता लागू है या किसी समय लागू थी। भारत में समान नागरिक संहिता न लागू होने के कारणों को जानने के लिए हमें औपनिवेशिक व उत्तर-औपनिवेशिक काल के दौरान क्रमशः ब्रिटिश व भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ताओं के आचरण के इतिहास पर नज़र दौड़ानी होगी।

## औपनिवेशिक काल में भारत में आधुनिक बुर्जुआ क़ानून व प्रशासनिक ढाँचे का निर्माण और पर्सनल लॉ का संहिताबद्धीकरण

भारत के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के तहत अंग्रेज़ों ने यहाँ आधुनिक बुर्जुआ क़ानून व प्रशासनिक

ढाँचे की आधारशिला रखी, परन्तु वे यहाँ के निवासियों के परिवार सम्बन्धी धार्मिक क़ानूनों में फेरबदल करने से बचते रहे। ऐसा इसलिए क्योंकि उन्हें ये डर सताता था कि इन क़ानूनों में फेरबदल करने से उन्हें स्थानीय लोगों के आक्रोश का सामना करना पड़ेगा जिससे औपनिवेशिक सत्ता के अस्तित्व पर खतरा आ सकता था, और उपनिवेशवादियों को यह जोखिम लेने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वे भारत में प्रबोधन और उद्धार करने नहीं आये थे, जैसा कि अम्बेडकर जैसे व्यवहारवादियों को लगता था। उल्टे वे केवल और केवल भारत की साम्राज्यवादी लूट के प्रति चिन्ता रखते थे। औपनिवेशिक भारत में दीवानी (सिविल) और फ़ौजदारी (क्रिमिनल) अदालतों की स्थापना 1772 में वारेन हेस्टिंग्स के गवर्नर जनरल पद पर रहने के दौरान हुई। लेकिन इन अदालतों में विवाह, तलाक़ व उत्तराधिकार जैसे मामलों को स्थानीय आबादी के पर्सनल लॉ के तहत सुनवाई होती थी। इन अदालतों की सुनवाई में मदद के लिए स्थानीय पण्डितों और मौलवियों की नियुक्ति की गयी जो किसी मामले में स्थानीय पर्सनल लॉ की जानकारी देते थे। बाद में विलियम जोन्स, एच.टी. कोलब्रुक और नील बैली जैसे प्राच्यशास्त्रियों ने वेदों, पुराणों, स्मृतियों सहित तमाम ब्राह्मणवादी शास्त्रों और कुरान, हदीस, अल-हिदाया, अल-सिराजिया और फ़तवा-ए-आलमगीर जैसे इस्लामी ग्रन्थों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया और करवाया। उसके बाद अदालतों में पर्सनल लॉ के मामलों में इन ग्रन्थों के आधार पर फैसले दिये जाते थे। इस प्रक्रिया में हिन्दू और मुस्लिम की एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक सख्त अस्मिताओं का निर्माण हुआ। अस्मिताओं के निर्माण की यह प्रक्रिया शुरू से ही दोषपूर्ण रही क्योंकि अंग्रेज़ों के भारत में आने से पहले हिन्दू और मुस्लिम अस्मिताओं के बीच इतना कठोर विभाजन मौजूद नहीं था। उदाहरण के लिए खोजा, मोपिला और मेमन जैसे मुस्लिम परम्परागत रूप से हिन्दुओं के परिवार सम्बन्धी क़ानूनों को मानते थे। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिम फ़्रण्टियर प्रॉविन्स में मुस्लिम बाहुल्य आबादी होने के बावजूद वहाँ शरिया क़ानून लागू नहीं होता था। विभाजन के बाद जब यह इलाक़ा पाकिस्तान में चला गया तब जाकर वहाँ शरिया क़ानून लागू हुआ। अधिकांश स्थानों पर हिन्दू और मुस्लिम एक ही ग्रामीण समुदाय का हिस्सा हुआ करते थे और अक्सर उनके रीति-रिवाज़ और भाषा

भी साझा हुआ करती थी। लोगों के पारिवारिक सम्बन्ध किसी संहिताबद्ध क़ानून की बजाय अक्सर परम्पराओं व रीति-रिवाज़ों के आधार पर स्थापित होते थे। अंग्रेज़ों के शासन के पहले ऐसे तमाम सम्प्रदाय हुआ करते थे जिन्हें सटीक रूप से हिन्दू या मुसलमान के रूप में चिह्नित करना मुश्किल था। यहाँ तक कि इस्लाम के भीतर भी सल्तनत और मुग़ल साम्राज्यों के दौरान इस्लामी क़ानून शरिया का कोई एक संस्करण हर जगह नहीं लागू होता था क्योंकि अलग-अलग जगहों की परम्पराएँ और रीति-रिवाज़ एक-दूसरे से अलग हुआ करते थे।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन जैसे-जैसे मज़बूत होता गया वैसे-वैसे हिन्दू और मुसलमान की पृथक अस्मिताएँ भी मज़बूत होती गयीं। 1870 में क्रिमिनल प्रोसीजर एक्ट और 1872 में इण्डियन एक्ट्स एक्ट के पारित होने के बाद आपराधिक मामलों में आधुनिक प्रक्रिया स्थापित हुई, लेकिन पारिवारिक मामलों में पर्सनल लॉ का इस्तेमाल जारी रहा। 1871 में शुरू हुई जनगणना के बाद हिन्दू और मुस्लिम अस्मिताओं के बीच का कठोर विभाजन और मज़बूत हुआ क्योंकि सेना में नौकरी, सरकारी नौकरी व राज्य की सुविधाओं का उपयोग करने के लिए हर किसी को अपना धर्म बताने की ज़रूरत होती थी। अंग्रेज़ों ने पृथक निर्वाचक मण्डल जैसी 'फूट डालो और राज करो' की नीतियों के ज़रिए इस विभाजन को और सख्त बनाया। इस प्रकार अंग्रेज़ जहाँ एक ओर ब्रिटेन के भीतर व्यक्ति की स्वतंत्रता पर ज़ोर देने वाले क़ानून व प्रशासनिक व्यवस्था को स्थापित कर रहे थे वहीं दूसरी ओर उन्होंने भारत में धार्मिक व जातीय समुदाय आधारित क़ानून व प्रशासनिक व्यवस्था की नींव रखी और आबादी को बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों के रूप में बाँटकर इन समुदायों के हितों की पृथकता पर ज़ोर दिया।

हिन्दू समुदाय के भीतर अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार की वजह से एक बुद्धिजीवी वर्ग पैदा हुआ जिसने अंग्रेज़ों से उदारता की अपील करते हुए हिन्दू कुरीतियों के खिलाफ़ क़ानून बनाने का आग्रह किया। उदाहरण के लिए राजा राम मोहन रॉय ने सती प्रथा के खिलाफ़ क़ानून बनवाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह को प्रोत्साहित करने के लिए क़ानून बनवाने का काम किया। इसी प्रकार विवाह के लिए लड़के और लड़की की न्यूनतम क़ानून

आयु सुनिश्चित करने की मुहिम भी चली जिसका नतीजा अन्ततः 1929 में शारदा क़ानून पास करने के रूप में सामने आया।

हिन्दू धर्म के भीतर चले धर्म सुधार आन्दोलनों में पुरातनपन्थी व प्रगतिशील दोनों धाराएँ मौजूद थीं जिसकी वजह से औपनिवेशिक काल में ही पर्सनल लॉ में बदलाव आने की शुरुआत हो चुकी थी। परन्तु इस्लाम के भीतर यह प्रक्रिया नहीं शुरू हो पायी। इस्लाम में जो धर्मसुधार आन्दोलन चले भी उनका चरित्र (उदाहरण के लिए बरेलवी और देवबन्दी) प्रायः पुनरुत्थानवादी था जिसकी वजह से उन्होंने इस्लामी क़ानून में सुधार की बजाय उसे कठोरता से लागू करने की वकालत की। यहाँ तक सर सैय्यद अहमद के नेतृत्व वाला अलीगढ़ आन्दोलन मुस्लिमों के बीच अंग्रेज़ी माध्यम में आधुनिक शिक्षा अर्जित करने पर ज़ोर देने के बावजूद विचारधारात्मक रूप से पुनरुत्थानवादी ही था और इसलिए उसने भी इस्लामी क़ानून में बदलाव करने पर ज़ोर नहीं दिया।

अंग्रेज़ों ने अपने बर्बर शासन के खिलाफ़ उठने वाले जनान्दोलनों को कमज़ोर करने के लिए हिन्दू व मुस्लिम दोनों धर्मों की रूढ़िवादी एवं कट्टरपन्थी ताकतों को बढ़ावा दिया जिसका नतीजा हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग जैसी संस्थाओं के अस्तित्व के रूप में सामने आया। 1930 के दशक में मुस्लिम लीग के प्रस्ताव पर ही अंग्रेज़ों ने 1937 में मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरिया) एप्लिकेशन एक्ट पारित किया जिसमें यह प्रावधान किया गया कि मुसलमानों के विवाह, तलाक़, गुजारा-भत्ता, उत्तराधिकार जैसे मामले शरिया के अनुसार ही निपटायें जायेंगे। 1939 में क़ानून विवाह विच्छेद से सम्बन्धित क़ानून भी पारित किया गया जिसमें मुस्लिम महिलाओं द्वारा उस स्थिति में तलाक़ के आधार दिये गये हैं जब उनका विवाह बचपन में हुआ हो। आज भी मुस्लिमों के पर्सनल लॉ सम्बन्धी क़ानून को वैधता इन्हीं दो क़ानूनों से मिलती है।

## उत्तर-औपनिवेशिक काल में भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता द्वारा पर्सनल लॉ के मामले में औपनिवेशिक परिपाटी को बरकरार रखना

भारत में औपनिवेशिक शासन के अन्तिम दिनों में बनी संविधान सभा में विभिन्न धर्मों के पर्सनल लॉ को समान नागरिक संहिता द्वारा प्रतिस्थापित (पेज 15 पर जारी)